साहित्य-धारा

लेखक

राजकुमार पाण्डेय 'कुमार' एम० ए०,

प्राध्यापक हिन्दू-डिग्री-कालेज,

मुरादाबाद

प्रकाशक

गौतम ब्रदर्स

मेस्टन रोड

कानपुर

प्रकाशक :—
गौतम ब्रदर्स
मेस्टन रोड, कानपुर

*

दो रुपए चार आने मात्र

*

१९५३
१५, जुलाई

मुद्रक :—
दि सेन्ट्रल प्रेस लिमिटेड,

अपनी बात

तीन चार वर्षों के इस अध्यापन-काल में, इण्टरमीडिएट-कक्षा के विद्यार्थियों के बीच समय-समय पर, मीरा, तुलसी, कबीर, 'प्रसाद', प्रभृत्ति कवियों पर पाठ्य-क्रमान्तर्गत आने वाली चर्चा के अतिरिक्त भी कभी-कभी जो बातचीत होती रही है उसी का प्रतीकात्मक-रूप है—'साहित्य धारा।' जो आपके समक्ष-प्रस्तुत है। इसके अधिकांश निबन्ध, 'आज', 'समाज', 'सन्मार्ग' आदि हिन्दी के अन्यान्य-पत्रों में प्रकाशित भी हो चुके है।

आलोचना के नवीनतम् 'मानों' को दृष्टि-पथ पर रखकर न इस पुस्तक की रचना हुई है और न मै आलोचक होने का दावा ही करता हूँ। कुछ अपनी दृष्टि से, इन कवियों को देखने, अनुभव करने, व निवेदन करने का, प्रयास-भर मैंने किया है। यह कहने में मुझे संकोच नहीं है। मौलिकता के सम्बन्ध मे, मेरी सदैव से यही धारणा रही है, कि 'वस्तु' मौलिक नहीं होती, मौलिक होती है अभिव्यक्ति।

कुछ कवियों के सम्बन्ध में मेरे विचारों से बहुत सम्भव है, आप अपना समन्वय न भी स्थापित कर सकें। तो भी मुझे 'कबीर' अपेक्षाकृत एक आदर्शवादी समाज सुधारक के, विरह-विदग्ध भावुक ही अधिक अनुभव हुए है। 'छायावादी' रचनाओं को मै संस्कृत-साहित्य से चली आती हुई अबाध शृङ्गार-परम्परा का ही एक अधिक विशिष्ट परिमार्जित शिव-स्वरूप मानता हूँ। और आज दिन भी मेरी इस धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

'दादू' के दर्द, 'मीरा' की पीर, 'महादेवी' की पीड़ा, और 'प्रसाद' के आँसुओं मे मौलिक रूप से कोई अन्तर न देखते हुए भी, विरह की तीव्र अनुभूति व उसकी स्वाभाविक-अभिव्यक्ति मे, कबीर व मीरा के बीच मुझे, जिस भाव-साम्य का अनुभव हुआ है—वह 'मीरा' और 'महादेवी' में नहीं।

'ढोल-गँवार शूद्र-पशु-नारी' जैसी विश्रुत् व विवादग्रस्त पंक्ति के विवादास्पद-अंश के संबंध में, मेरी धारणा आज भी यही है, कि वह 'तुलसी' की नहीं, तुलसी के युग की अभिव्यक्ति है। 'रीतियुग' के संबध मे, कई प्रगतिशील मित्रों के अनेक तीखे-कड़ुवे कटाक्षों की प्रचंड-वर्षा मे भीगते हुए भी, मेरी धारणा में यह बात नहीं पैठ पाती कि उस युग का संपूर्ण वाङ्मय ही प्रयोजनहीन-परिश्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरा विश्वास है, कि उस युग के साहित्य का भी अपना सौष्ठव व एकांतिक मूल्य है।

प्रस्तुत पुस्तक के, "प्रसादजी और उनका व्यक्तित्व" शीर्षक लेख के लिए

डा० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, 'बेढब' बनारसी, व श्री विनोदशंकर व्यास का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। अन्त में डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' पं० अयोध्यानाथ शर्मा, पं० सीताराम चतुर्वेदी एवम् आचार्य कालिकाप्रसाद भटनागर का भी मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ, जिन्होंने सदैव ही मेरे तिमिर-पथ को आलोक देने की चेष्टा की है। निबंध प्रतिलिपि-कर्त्ता चि०—देवेन्द्र शर्मा व ओमप्रकाश गोविल को मेरे शतशः साधुवाद।

—लेखक

माघ कृष्ण ३,
शनि, २००६
सागर-विश्वविद्यालय,
सागर

प्रकाशकीय

परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव में इस पुस्तक का प्रकाशन अत्यन्त शीघ्र करना पड़ा है, जिससे इसके कलेवर को मन चाहा सौन्दर्य नहीं दिया जा सका तथा व्यक्तिगत-निरीक्षण के अभाव से कुछ छपाई सम्बन्धी त्रुटियाँ भी रह गई हैं। पुस्तक के अग्रिम संस्करण में इन त्रुटियों के न रहने का विश्वास दिलाते हुए, हम अपने सहृदय-पाठकों से क्षमा चाहेंगे। वैसे भूल-सुधार का एक पृष्ठ अन्त में जोड़ भी दिया गया है।

—प्रकाशक

समर्पण

हिन्दी-आलोचना के स्तंभ, व मेरे पथ-प्रदर्शक

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

[अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय]

के

कर-कमलों में सादर-समर्पित

राजकुमार पाण्डेय 'कुमार' एम० ए०

प्राध्यापक—हिन्दू-डिग्री-कालेज,

(मुरादाबाद)

भूमिका

यह तो सर्व-विदित ही है कि हिन्दी में अभी तक समालोचना का साहित्य अपूर्ण-सा है। 'समालोचना' प्रत्येक साहित्य के परिष्कार और पथ-प्रदर्शन के लिए अत्यन्त-आवश्यक है। प्रत्येक पाठक में इतनी सूक्ष्म-विवेचना-शक्ति नहीं होती कि वह गुण-दोष का विवेचन स्वयं कर सके। साथ ही अपने लिए अच्छी व उपयोगी-पुस्तकों का चुनाव और हानिकर साहित्य का परित्याग करे। इसलिए आज भी नीर-क्षीर-विवेचना करने वाली समालोचनाओं की आवश्यकता है। स्वयं अपनी रचना के गुण-दोषों का अनुभव नहीं होता। समालोचक जब तटस्थ रहकर गुण-दोष का निर्णय कर देता है, तब लेखक को उससे बड़ा सहारा मिलता है। वह अपनी रचना के दोषों को दूरकर उसमे गुणों का समावेश करने की चेष्टा करता है, और आगे के लिए सतर्क हो जाता है। लेखक और समालोचक परस्पर सापेक्ष्य हैं अगर लेखक न हों, तो समालोचक समालोचना किसकी करेगा और अगर समालोचक न हों तो लेखक की कृतियों को परखेगा कौन? अस्तु:

हिन्दी में समालोचक न हों, यह बात नही है। पं० रामचन्द्र-शुक्ल, प० पद्मसिंहशर्मा, श्री पदुमलाल-पन्नालाल बख्शी, आदि कई उच्च-कोटि के समालोचक हो गये है और इस समय भी पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० 'सत्येन्द्र' आदि कई अच्छे समालोचक मौजूद हैं। यद्यपि लेखकों की अपेक्षा समालोचकों की संख्या बहुत ही कम है। पर हर्ष की बात है कि इस क्षेत्र में दिन-दिन अधिक लोग आते दिखाई पड़ रहे हैं। आशा है, कुछ ही दिनों मे हिन्दी समालोचकों की संतोषजनक-संख्या देख पड़ेगी।

यह संग्रह भी समालोचना-सम्बन्धी साहित्य के ही अन्तर्गत है। जिनके लेखों का यह संग्रह है, वह एक विद्वान् अध्यापक, उच्चशिक्षित और सहृदय साहित्यसेवी हैं। प्रो० राजकुमार पाण्डेय "कुमार" एम० ए० सागर-विश्व-विद्यालय के रिसर्चस्कालर है। इस विश्वविद्यालय में आपको प्रसिद्ध-आलोचक पं० नन्ददुलारे बाजपेयी का पथ-प्रदर्शन प्राप्त होना आपके लिए सौभाग्य की बात है, इसमें संदेह नहीं।

इस संग्रह मे आपके जो महत्वपूर्ण लेख हैं, उनके सम्बन्ध में मैं संक्षेप में कुछ अपने विचार यहाँ प्रकट करूँगा। 'भावुक कबीर' शीर्षक लेख में लेखक की यह विशेषता है कि उसने 'कबीर' के समाजसुधारक रूप को छोड़कर कवि-रूप का ही पर्यालोचन किया है। उसने 'कबीर' के समाजसुधारक रूप को गौण—और कवि रूप

को मुख्य माना है। वह कबीर के सच्चे-स्वरूप का निर्णय कबीर के इस दोहे के आधार पर करते है—

विरह—कमण्डल कर लिये बैरागी दोउ—नैन।
माँगत दरश—मधुकरी छके रहत दिन—रैन ॥

उन्होंने लिखा है कि कवि, युग की परिस्थिति से प्रभावित होता है और उसका चित्र खींचता है। कबीर ने जो धर्म के ढोंग का पर्दा-फाश किया है, इससे जान पड़ता है कि उनके समय मे भी ढोंगी लोग धर्म के नाम पर धर्मगुरुओं का बाना धारण करके दुनिया के लोगों को ठगा करते थे। 'कबीर' ने सत्य का आश्रय लेकर बड़े साहस के साथ ऐसे ढोंगियों पर आक्रमण किया है। इसके सिवा 'कबीर' के साहित्य म जो एक अतःवेदना—विश्वात्मा के विरह की बेचैनी और उससे मिलने की अनवरत-उत्कण्ठा—दृष्टिगोचर होती है, उसीने उनकी रचना में भावुकता भर दी है। 'कबीर' की रचना के सम्बन्ध में लेखक के ये उद्‌गार बहुत ही सुन्दर है—

"उनके हृदय की कोमल अनुभूतियों का इतना आडम्बरहीन सच्चा-स्वरूप शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि मे देखने को मिले। हृदय के सितार पर अनुभूति-के मिजराब की चोट दे-देकर जो कुछ उन्होंने गाया वही गीत बन गया। वाग्वैदग्ध्य् न उनको इष्ट था और न वे इसके फेर में पड़े। जितना उनका जीवन सरल था, उतनी ही उनकी रचना स्वाभाविक।"

दूसरा लेख है, राजस्थान के प्रसिद्ध कवि 'महाराज पृथ्वीराज' पर। यह वही पृथ्वीराज है जिन्होंने महाराणा—'प्रताप' की ओर से बादशाह-अकबर के आगे आत्मसमर्पण स्वीकार करने का पत्र आने का समाचार सुनकर, प्रतापसिंह को एक जोशीला-पत्र कविता में भेजा था—उसमें 'प्रताप' के स्वतन्त्रता-प्रेम की सराहना करते हुए लिखा था कि ऐसा कभी नहीं होना चाहिये, कि हिन्दू-सूर्य 'अकबर' की अधीनता स्वीकार कर लें। अन्त मे लिखा था कि "मन को मरद मानी प्रबल-प्रतापसिंह बब्बर सो तड़पि अकब्बर पै आवैगो।" इस ओजस्वी पत्र को पाकर 'प्रतापसिंह' के विचार एकदम पलट गये। घास की रोटी बिलाव के छीन ले जाने पर राजकुमारी को रोते देखकर 'प्रताप' विचलित हो उठे थे। उन्होंने अकबर को लिख भेजा था, कि मैं अधीनता स्वीकार करने को प्रस्तुत हूँ। किन्तु अब फिर उसी आन पर डट गये। ऐसी थी महाराज पृथ्वीराज की प्रभावशालिनी कविता।

महाराज पृथ्वीराज एक ऊँचे दर्जे के कवि थे। उनका प्रसिद्ध-ग्रन्थ राजस्थानी भाषा में अर्थात् डिंगल में 'बेलीक्रिसन रुक्मिणीरी' है। यह ग्रन्थ अत्यधिक कवित्वपूर्ण और कवि की कल्पनाशक्ति व प्रतिभा का परिचायक है। 'कुमार' जी ने महाराज पृथ्वीराज का परिचय देने के साथ ही उनकी कविता के गुणों पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'पृथ्वीराज' ने कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की प्रसिद्ध-कथा को अपनी प्रतिभा

कल्पनाशक्ति और वर्णन से बिल्कुल नवीन रूप दे दिया है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, हिन्दी में इस ग्रन्थ के विषय मे बहुत कम चर्चा हुई है। इस दृष्टि से यह लेख बहुत महत्वपूर्ण है।

तीसरा लेख 'राजस्थान' की अद्भुत-विभूति, गिरधर-गोपाल की अनन्य-उपासिका 'मीराबाई' पर है। मीरा और उनकी कविता पर हिन्दी मे अब तक बहुत से लेख लिखे गये है और कई पुस्तकें भी निकल चुकी हैं। 'कुमार' जी ने अपने इस लेख में मीरा की चर्चा और उनकी कविता की विशेष-धारा पर रोचक ढङ्ग से व्यञ्जना की है। 'मीरा' की कविता में विरह की व्याकुलता, मिलन की उत्कट-इच्छा, भावोन्माद, आत्म-निवेदन आदि अनेक विशेषताएँ हैं, जिनका विश्लेषण 'कुमार' जी ने अपनी सुन्दर-सरल शैली में विस्तार के साथ किया है। पढ़ने-पढते 'मीरा' और गिरधर-गोपाल की मूर्ति साकार हो उठती है। 'मीरा' की कविता में भक्तिपक्ष तो प्रबल और प्रकट ही है, किन्तु उनका साहित्यिक-व्यक्तित्व भी स्पष्ट है। वह व्यक्तित्व एक चिर-विरहिणी नारी का रूप है। उनकी प्रेमसाधना निष्काम है। उसमे वासना का लेश भी नही है। जिस उत्सुकता से 'चातक' स्वाती के घन को, चकोर 'चन्द्रमा' को, मयूर 'मेघ' को निहारा करता है, उसी उत्सुकता से 'मीरा' आजीवन अपने प्रियतम गिरधर-गोपाल को निहारती-पुकारती रहीं। इस विषय में 'राधा' ही उनकी समता कर सकती थी। कहना चाहिये कि वह 'तन्मय' और 'तल्लीन' हो गई थी। 'मीरा' के उन अनुराग-रंजितभावो के साथ ही उनकी भाषा पर भी लेखक ने अच्छा विवेचन किया है।

चौथा लेख है, महाकवि गोस्वामी-तुलसीदासजी के 'चरित्रचित्रण' पर। गोस्वामी जी की रामायण का प्रचार भारत के घर-घर में है, यह कहना कुछ अत्युक्ति न होगी। भारतीय, जो प्रवासी होकर अन्य देशों में जा बसे है, उनके कारण 'तुलसी' की रामायण का प्रचार विदेशों में भी है। किन्तु रामायण में जिन चरित्रों का वर्णन है, उनकी विशेषताओ पर ध्यान देकर अपने चरित्र को सुधारने की चेष्टा करने वाले कितने है ? इसका कारण यही है कि साधारण लोग धार्मिक-भावना से रामायण को देख जाते है। वे यह नही समझते कि इन चरित्रों से उन्हे भी कोई शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ऐसे लोगों के लिए एक ऐसी पुस्तक की बड़ी आवश्यकता है, जिसमे रामायण के पात्रों के चरित्र की विस्तृत-आलोचना की गई हो। उसमें यह दिखाया-जाय कि रामायण की घटना ऐतिहासिक होने पर भी, वह संसार में सदैव घटित होती रहती है। राम सद्भावना और सच्चरित्र के प्रतीक है और रावण दुर्भावना और दुश्चरित्र का प्रतीक है। इन दोनों का संघर्ष सदैव ही होता रहता है और अन्त मे सच्चरित्र की ही विजय होती है। लेखक ने इस लेख में—इस पक्ष को भी लेकर यह दिखलाया है कि महाकवि ने किस निपुणता के साथ कौन सा चरित्र अङ्कित किया है उन्होंने एक विशेष-पर्यवेक्षण और बारीकी के साथ तुलसीकृत के चरित्रों का तुलसी कृत

निरूपण हमारे सामने रक्खा है। इस लेख की सहायता से 'रामायण' के पात्रों पर दृष्टि-पात करने से पाठक को बहुत ही आनन्द प्राप्त होगा और 'रामायण' का पाठक यह अनुभव करेगा कि उसे भी अपने जीवन में 'रामायण' के पात्रों से प्राप्त होने वाली शिक्षा का उपयोग करना चाहिए। इस दृष्टि से यह लेख ज्ञानवर्धक, उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

पाँचवा लेख है, 'रीतिकाल का साहित्यिक-महत्व'। विषय, 'शीर्षक' से ही स्पष्ट है। 'रीतिकाल' वह युग था जब भारत की समृद्धि क्षीण हो चली थी। फिर भी आज की तरह तब भोजन के लाले नहीं पड़े थे, न आधि-व्याधि की ही भरमार थी। उस समय कवियों के आश्रयदाता राजा महाराजा तथा अमीर-उमरा हुआ करते थे। उनके मनोरंजन के लिए कवि लोग 'नायिका-भेद' जैसी शृङ्गारी-रचनाएँ करने लगे। सच पूछो तो संस्कृत-साहित्य में बहुत पहले से ही ऐसी रचनाएँ होने लगी थी। उसी के अनुकरण पर हिन्दी में भी ऐसी रचनाओं का प्रचार हुआ। आज कल के शिक्षित और विचारक इन रचनाओं को दिमागी-ऐयाशी कहकर नाक भौं-सिकोड़ते है। वे कहते हैं, कि शृङ्गार का वर्णन ही न होना चाहिये। वे रीतिकाल के साहित्य को रद्दी की टोकरी मे फेक देने लायक मानते है। परन्तु उनका यह मत विवादास्पद है। निःसंदेह कामुकतापूर्ण-नग्न-साहित्य—जैसे सुरति-वर्णन आदि—त्याज्य है। वैसे साहित्य की इस समय आवश्यकता नही है। पर खेद है, कि 'यथार्थवाद' के नाम पर आज भी कोई-कोई लेखक और कवि ऐसे साहित्य की रचना कर रहे हैं जिनकी तुलना में पुराना नायिका-भेद कुछ भी नहीं है। आज का कवि "उभरे अमिया से उरोज" निःशंक लिख देता है और वह अश्लील नहीं समझा जाता। आज के "घर के बाहर," "एकाकी" जैसे उपन्यास प्रशंसनीय समझे जाते हैं। तब रीतिकाल के साहित्य ने क्या अपराध किया है? वह तो इन रचनाओं का दशांश भी नग्न नहीं है। अस्तु, 'कुमार' जी ने इस लेख में रीतिकालीन-साहित्य के भिन्न भिन्न रूपों पर प्रकाश डालते हुए, उसका महत्व दर्शाया है। यह लेख भी पठनीय और लेखक की अध्ययनशीलता और विवेचनाशक्ति का परिचायक है।

छठा लेख है, 'बिहारी की भक्ति-भावना'। महाकवि 'बिहारी' अपने ढंग के एक ही कवि हो गये हैं। केवल एक ही 'सतसई' लिखकर वह चोटी के कवियों मे स्थान पा गये। संस्कृत में जैसे अनुष्टुप छन्द में बड़े से बड़े भाव व्यक्त करने के कारण 'अमरसिंह' की प्रतिष्ठा है, वैसे ही 'दोहा' जैसे छोटे छन्द मे बड़े से बड़े भाव भरकर 'बिहारी' अमर हो गये हैं। बिहारी के अधिकांश दोहे शृङ्गाररस के हैं और रसिकजनों में उनका बड़ा आदर है। किन्तु 'बिहारी' ने कुछ भक्तिभाव के भी उत्तम दोहे लिखे हैं। जान पड़ता है, इनकी रचना उन्होंने वृद्धावस्था आने पर की है, जैसे 'पद्माकर ने   में गंगालहरी बनाई थी जैसे   में शृंगार

की ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है, वैसे ही इंद्रियों के शिथिल होने पर भगवान-को याद करना भी स्वाभाविक है।

बिहारी के भक्ति के दोहों मे भी उनका निजस्व-बाँकपन मिलता है। भगवान से भी वह स्पष्ट कह देते है—

कब को टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु जगनायक जगबाय॥

कितना मधुर व्यंग् और तीव्र उलाहना है! 'बिहारी' के भक्तिरस के दोहे थोड़े है, परन्तु उनके श्रृंगार-रस के दोहों से वे टक्कर ले सकते है। 'बिहारी' की भक्तिभावना पर इस लेख में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

'सेनापति का प्रकृति-प्रेम' शीर्षक लेख में 'कविवर सेनापति' की चर्चा है। सेनापति बड़े भावुक और रामभक्त कवि हो गये है। उन्हें 'श्लेष' अलंकार बहुत प्रिय था। वह प्रकृति के भी सूक्ष्म निरीक्षण में पटु थे। उन्होंने षट्ऋतुवर्णन बहुत अनूठा किया है। उसमें 'श्लेष' की खूबी देखने योग्य है। 'सेनापति' की कविता नारियल की तरह ऊपर से कठिन, किन्तु भीतर से बड़ी सरस है। जो उसके भीतर पैठ पाता है, उसे अपूर्व-रस मिलता है। इस छोटे से लेख में लेखक ने सेनापति के कई छंदों का ऊपरी आवरण हटाकर उनकी सरसता का अच्छा परिचय दिया है।

'छायावाद और उसका स्वरूप' शीर्षक लेख का भी अपना महत्व है। 'छायावाद' की परिभाषा आज तक सर्वसम्मत-रूप से निश्चित नही हुई। 'कुमार' जी ने नागरी-प्रचारिणी-सभा-काशी की एक कल्पित-गोष्ठी में उपस्थित स्व० हरिऔध जी, ला० भगवानदीन जी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'प्रसाद' जी आदि के मुख से 'छायावाद' के संबंध में उन्हीं के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों का उल्लेख इस लेख में किया है।

'कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि' शीर्षक लेख भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। बा० जयशंकर 'प्रसाद' हिन्दी के महान् कवि और नाट्यकार थे। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी चतुर्मुखी-प्रतिभा का परिचय दिया था। काशी में पाँच वर्ष तक मै उनके ससर्ग में चौबीसों-घंटे रहा। उनका अध्ययन और साहित्य-अनुशीलन अद्वितीय था। उनकी प्रतिभा निसर्गजात थी। उन्होंने मुझसे कहा था कि वह 'मनु और वैदिक-इन्द्र' पर दो महाकाव्य लिखना चाहते हैं। 'मनु' पर तो वह 'कामायनी' नाम की अमर-रचना हिन्दीजगत् को दे गये, किन्तु 'वैदिक-इन्द्र' पर महाकाव्य लिखने की उनकी इच्छा पूरी न हो सकी।

प्रसादजी की कामायनी में जीवनदर्शन भरा पड़ा है। मन का श्रद्धा और बुद्धि से पूर्णसहयोग ही कामायनी की कथा का ताना-बाना है कामायनी के संबंध में

आलोचकों ने बहुत कुछ कहा है। पक्ष मे भी और विपक्ष में भी। 'कुमारजी' ने इस छोटे से लेख मे अत्यन्त संक्षेप मे कामायनी के दार्शनिक-पक्ष का संयत्-विवेचन किया है।

इस संग्रह में और भी कई लेख हैं। पाठक उन्हे भी पढकर सन्तुष्ट ही होंगे। इस लेखक मे एक विशेष गुण मै देखता हूँ। वह गुण है संक्षेप मे, थोड़े मे, बहुत कुछ कह देना और सरल-भाषा मे अपना अभिमत-व्यक्त करना। अनावश्यक-विस्तार बढा देने से यह दोष आ जाता है कि पाठक ऊब जाता है। 'कुमारजी' अपने क्षेत्र के पंडित हैं इसलिए, उनका समझाने की कला में निपुण होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उन्होने इन्टरमीडियट-क्लास के विद्यार्थियों को पढ़ाते समय, समय-समय पर 'मीरा', 'तुलसी', 'बिहारी', 'प्रसाद' आदि कवियोंके संबंध मे जो विचार प्रकट किये है, उसी का मूर्त-रूप ये लेख हैं। आशय यह कि लेखक का इन कवियों के विषय मे अपना एक सुचिन्तित-दृष्टिकोण है यह। ये लेख निःसंदेह इण्टर से लेकर बी० ए०, एम० ए० तक के विद्यार्थियों के उपयोग में भी आ सकेंगे। इनकी सहायता से वे हिन्दी के कई महाकवियों और उनके काव्यों के बारे में अच्छी जानकारी प्राप्त कर लेंगे। इस प्रकार उनमें विवेचना- शक्ति का अच्छा विकास भी होगा। मेरा विचार है कि इंटर से लेकर बी० ए०, एम० ए० तक की कक्षाओं में यह संग्रह, सहायक-पुस्तक के रूप में शिक्षा-विभाग द्वारा अवश्य-स्वीकृत किया जाना चाहिए।

रानी-कटरा, लखनऊ
अषाढ़-शुक्ल १, रविवार
२०१० वि०

रूपनारायण पाण्डेय

विषय-सूची

भावुक-कबीर

अपनी साधारण पठन-पाठन की शैली में, हम कबीर के जिस रूप से परिचित होते है, वह है उनका समाज सुधारक अथवा पथ प्रदर्शक स्वरूप। अध्ययन की इस प्रणाली मे हम भाव-विभोर भावुक कबीर के सम्बन्ध में इतना ही जान पाते हैं कि वे एक बहुश्रुत संत साधक थे। पाखण्डों के विद्रोही अवधूतो के अग्रगण्य, साथ ही हिन्दू मुसलमान जनता के समान रूप से हितैषी। इसीके साथ यदि बहुत हुआ तो, हम उनके जीवन व मृत्यु के सम्बन्ध में पाई जाने वाली कुछ आश्चर्यमई घटनाओ को भी जोड़ लेते है। जिन्हे सम्भवतः उन्ही के शिष्यो ने, उनकी स्मृति को चिरतन, व उन्हे सिद्ध, करने के लिए आश्चर्य मई किवदन्तियों के रूप मे गढ़ लिया होगा। आशय यह कि इस क्षेत्र में हम कबीर के समाज सुधारक रूप से तो परिचित होते है, किन्तु उनके कोमल कवि रूप से, हम अपरिचित ही बने रहते है। हमारे इस परिचय की न्यूनता का कभी कभी तो बड़ा भ्रामक रूप भी देखने में आता है। स्वय इन पंक्तियों के लेखक की राय भी, आज से कुछ वर्ष पूर्व कबीर के सम्बन्ध में वैसी ही थी। मै भी उन्हें मनमाने तौर पर गढ़े हुए शब्दो के आधार पर तैयार की गई खिचड़ी भाषा का एक बहुश्रुत संत सुधारक (कवि नही) ही समझता था। मुझे उनसे श्रद्धा थी, मैं उन्हे भारत का पहला गाँधी मानता था, किन्तु उनके दूसरे रूप यानी उनके कवि स्वरुप को मै कुछ सदिग्ध व झिझकती हुई दृष्टि से ही देखता था। किन्तु आज कबीर के सम्बन्ध में, मेरी धारणा कुछ और है। आज यदि एक ओर मैं उन्हे समाज सुधारक गांधी के रूप मे पाता हूँ तो दूसरी ओर रवीन्द्र कवीन्द्र के रूप मे अपने कोमल भावों की अक्षय निधि से भारती का भण्डार भरते हुए देखता हूँ। और तब मैं इस असमंजस में पड़ जाता हूँ कि कबीर के इन दोनों रूपों मे, किसे उनके व्यक्तित्व का सच्चा स्वरूप समझा जाए। इस सम्बन्ध में, हमे सबसे पहले कबीर की अपनी आत्माभिव्यक्ति से परिचित हो लेना होगा। एक स्थल पर उन्होंने कहा है:—

विरह कमंडल कर लिए, बैरागी दोउ नैन।
माँगत दरस मधूकरी, छके रहल दिन रैन॥

ऐसा अनुभव होता है कि कबीर का यही सच्चा स्वरूप है किन्तु साहित्य-दवता का दूसरी ओर बनता जनादन का पुजारी भी होता है क्योंकि

जन-मन मानस का दर्पण भी तो है साहित्य। अतएव साहित्य में सत् शिव और सुन्दर की उद्भावना करने वाला, जीवन और जगत में भी अनिवार्यतः उसी की प्रतिष्ठा करना चाहेगा। अपने स्वतंत्र स्पंदनों की माला गूँथने वाला युगधर्म से भी प्रभावित होना जानता है। जो एक ओर युग का निर्माता है दूसरी ओर वह युग निर्मित भी है। मानव होने के नाते, अपने समाज की दुर्दशा देख कर उसे सच्चे मार्ग की ओर ले चलने की प्रेरणा देनेवाले कलाकार को यदि हम कोरा समाज-सुधारक अथवा उपदेशक ही मान लें तो भी यह अपनी ही भूल होगी। परिणामतः हम उस कवि अथवा साधक के जीवन के एक अत्यन्त कोमल पक्ष से भी अपरिचित बने रहेंगे।

मुझे कबीर के इस परम कोमल स्वरूप से, परिचित कराने का श्रेय मूलतः तो स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद' को है। जिनके व्यथित हृदय के मूर्तहाहाकार 'आँसू' को पढ़ कर आँसू के अतिरिक्त और मुझे जीवन में कुछ भी अच्छा न लगने लगा। अपनी इस भावात्मक भूख को शांत करने के लिए, सदैव विधुर संगीत की खोज में भटकता हुआ, मुझे महादेवी व मीरा से परिचित होने का सुअवसर भी मिला। महादेवी व मीरा में मुझे एक अजीब भावात्मक साम्य दिखाई पड़ा। अभिव्यक्ति की कोमलता, विरह की विदग्धता और प्रीतम के दर्शनों की सीमा हीन छटपटाहट दोनों में ही एक सी दिखाई दी। 'महादेवी आधुनिक मीरा हैं, मेरा विश्वास दृढ़ हो गया। इसके बाद फिर मुझे ऐसा लगा कि कोमल भावों के इन प्रायः समस्त उद्भावकों में देश व काव्य की जबरदस्त भिन्नता होते हुए भी उनमें एक विशेष बात समान रूप से ही समाविष्ट है और वह है उनकी आडम्बर हीन वाणी। व उनके घायलहृदय की सहृदय सम्वेद्य करुणा। 'मानिषाद प्रतिष्ठाम्' एवं 'वियोगी होगा पहिला कवि,' का रहस्यात्मक अवगुंठन खुलते ही, वेदना की इस अनन्त व्यापनी सत्ता को हृदयंगम करते ही भिन्नत्व मे अभिन्नत्व व अभिन्नत्व में भिन्नत्व का मर्म भी अपने आप समझ में आ गया। और समझ में आ गया कि वाणी के विभिन्न आवरणों, देश और काल के नाना विधि अन्तरात्माओं के अन्दर भी क्या मीरा, क्या महादेवी, 'प्रसाद' और क्या कबीर सबों में एक ही प्राण चेतना मुखरित हो रही है।

मीरा की 'पीर', महादेवी की 'पीड़ा' प्रसाद के 'आँसू' दादू का 'दरद' और कबीर की मर्मस्पर्शी वेदना में मूलतः कोई अन्तर नहीं। वाणी के नग्न वाह्य आचारों को छोड़ कर प्रायः इन सभी भावुक साधकों के अन्तःकरण का निर्माण बहुत कुछ एक ही प्रकार के भाव तत्वों से हुआ है। समष्टि रूप में यदि इन सबों को 'वेदना' की संज्ञा दे दी जाये तो अधिक उपयुक्त होगा।

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य भी कबीर की उसी अनन्त व्यापनी वेदना का विश्लेषण है, जो उनकी रचनाओं में उनके हृदय के अनेक करुण कोमल स्पन्दनों का रूप लेकर यत्र तत्र एवं सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है कबीर हिन्दी के सबसे पहले

रहस्यवादी कवि है या नहीं, महादेवी आधुनिक रहस्यवाद की सर्व श्रेष्ठ कवियत्री हैं या नहीं—"प्रसाद के आँसू रहस्य की अक्षय निधि से आवृत्त हैं या नहीं—मीरा की रचनायें आधुनिक वैज्ञानिकता के आधार पर किसी वाद की श्रेणी में आती हैं या नहीं इन अनेक जटिल प्रश्नों के उत्तर का न तो यहाँ अवकाश ही है, और न प्रयोजन ही। तो भी इस सम्बन्ध मे इतना तो अवश्य ही जान लेना होगा कि विश्वात्मा के विरह में आत्मा की कोमल विदग्धता का रूप जितना ही अधिक तीव्र, करुण, एवं सम्वेदनशील होगा आध्यात्मिक रचना भी उतनी ही अधिक सत् शिव एवं सुन्दर होगी।

हिन्दी के अत्यन्त सुप्रसिद्ध कवि श्री 'निराला' की निराली दिनचर्या को कुछ अधिक संयत व व्यविस्थित करने के प्रयास में असफल होकर श्रीमती महादेवी वर्मा को कहना पड़ा था "भावना के इस महान् हिमालय को अपनी मुट्ठी मे बाँध रखने का प्रयास मेरी भूल थी" आश्चर्य यह कि जब किसी कलाकार के व्यक्तित्व को किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के चौखटे मे जकड़ रखने का प्रयास एक भूल हो सकती है, तो उसकी कला को किन्ही विशेष सिद्धान्तों की कसौटी पर कसना भी एक भ्रान्ति हो सकती है। कबीर के सम्बन्ध में भी यह मत अपवाद का रूप नही लेता।

हिन्दी के उन सभी सन्त साधकों का मूल्य जिनमें मीरा, दादू, नानक, रैदास एव कबीर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, किन्ही निश्चित साहित्यिक मान्यताओ के आधार पर नही आँका जा सकता और उसमे कबीर के व्यक्तित्व का कहना ही क्या ? जो नृसिंह की भाँति परस्पर दो विरोधी कोटियों के मिलन बिन्दु पर खड़े हुये थे;' जिनके हृदय की कोमल अनुभूतियों का इतना आडम्बरहीन सच्चा स्वरूप शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि मे देखने को मिले। हृदय के सितार पर अनुभूति के मिज-राब की चोट दे देकर जो कुछ उन्होंने गाया वही गीत बन गया। वाणी वैदग्ध्य न उनका इष्ट था और न वे उसके फेर मे ही पड़े। जितना उनका जीवन सरल था उतनी ही उनकी रचना स्वाभाविक। जैसा उनका वाह्य था वैसा ही उनका अन्तर विरम्भ खण्डन-मण्डन, समाज सुधार व राजनीति न तो कोमल कविता के विषय ही है और न उन पर की गई रचनाये चिरन्तन ही हो सकती हैं। प्रगतिशील साहित्यकों को यह बात चाहे न अच्छी लगी हो, तो भी सत्य सत्य ही है। यही कारण है कि कबीर जैसे परम आडम्बरहीन कवि की वाणी का वह सुधारात्मक भाग भी हमारे मस्तिष्क तक ही अपनी पहुँच रख पाया है, उससे हमारे हृदय की भूख न शान्त हुई है और न होगी। कबीर के सच्चे व्यक्तित्व का परिचय भी हमें यहाँ नही हो सकेगा। यह ध्रुव निश्चय है। किन्तु विश्वात्मा के विरह में उनकी आत्मा से निकले हुये कुछ ही भाव-गीतों मे कितनी मार्मिकता व विदग्धता है, मृग मरीचिका में भटकते हुये मानव हृदय की प्यास बुझाने की उनमें कितनी असीम क्षमता है, इसका अनुभव सहज ही उनकी भाव प्रधान रचनाओं से किया जा सकता है हरि नाम का प्याला जिन्होंने एक

बार भी पी लिया फिर उन्हें संसार का कोई भी पेय अच्छा नहीं लगता इसे एक बार ही पीकर आदमी जीवन भर के लिये तृप्त एवं तृष्णा रहित हो जाता है। आध्यात्मिक प्रेम की हाला के लिये न मैखाने की आवश्यकता है और न मीना की। यहाँ तो सर्वत्र प्रेम ही साम्राज्य है प्रेम ही साक़ी है, प्रेम ही प्याला और प्रेम ही पीने वाला है। साहित्य के क्षेत्र मे प्रेमी, पागल, कवि एवं विरही एक दूसरे के पर्याय ही हैं। कबीर के लिये भी हम इन शब्दों में जिसे चाहें व उपयुक्त समझें निर्धारित कर सकते हैं।

अनन्तशीलशक्ति एवं सौंदर्य के आगार अपने प्रियतम की स्मृति में ही, उनके आगमन की प्रतीक्षा मे ही प्रेमी अपने जीवन का एक एक क्षण लगा देता है। भूख उसे लगती नही, नींद उसे आती नहीं। जब संसार निद्रा निमग्न होता है, प्रेमी अपने प्रियतम की याद मे जागता हुआ आँसू बहाता रहता है। 'या निशा सर्व भूता-नाम्' के विरोध मे जगने वाला साधना के क्षेत्र में संयमी कहलाता है और साहित्य के क्षेत्र मे वही कवि की संज्ञा पाता है। इष्ट पथ दोनों का एक ही है। तब सुख समृद्धि के नग्न भौतिक साधनों को जुटाने मे ही प्रति पल व्यस्त संसार के अन्य प्राणियों के साथ उसका समझौता कैसे हो सकता है। 'रामचरन' की ओर जिसका मन तिरसठ (६३) हो चुका है, संसार की ओर से तो उसे छत्तीस (३६) होना ही पड़ेगा। प्रेम के इसी चिरंतन सत्य की अभिव्यक्ति करते हुये प्रेमी कबीर ने एक स्थल पर कहा है—

"सुखिया सब संसार है, खावै औ सोवै।"
दुखिया दास कबीर है, जागै औ रोवै॥

प्रियतम की प्रतीक्षा मे अहर्निश जगना और उनकी स्मृति में दिन रात आँसू बहाना प्रेमी के यही दो प्रधान धर्म है। अपने इन्ही दो प्रधान धर्मों का साङ्गोपाङ्ग निर्वाह करते हुये 'दुखिया कबीर दास' इस दशा मे भी कितने 'सुखिया' रहे होंगे इसका अनुभव सच्चे प्रेमी हृदय ही कर सकते हैं।

सच्चे प्रेमी की मनोदशाओं का चित्रण करते हुए सूफी कलाकार जायसी ने भी एक स्थल पर कहा था :—

"विरह वाण जिहि लागिया औषधि लगै न ताहि।
सुसकि सुसकि मरि मरि जियै, उठै कराहि कराहि"॥

कबीर भी पागल प्रेमी की उसी मनोदशा का चित्रण करते हुये थोड़ी सी बदली हुई वाणी में कहते है :—

"अँखड़ियाँ झाँई पड़ी पन्थ निहार निहार।
जीभड़ियाँ छाले पड़े नाम पुकार पुकार"॥

प्रभु के प्रेम में पागल कबीर के हृदय से निकली हुई यह अनुभूति डबडबाई हुई आँखों की तरह ही सजल है भाषा में कुछ पजाबीपन होते हुये भी, आँख के लिए

'आँखड़ियाँ' और जीभ के लिये 'जीभड़ियाँ' शब्दों में जिस कोमलता व करुणा का संचार हो रहा है, वह अनुभव करने की ही वस्तु है। पाणिनि के सूत्रों में जकड़ी हुई भाषा का अत्यन्त परिमार्जित स्वरूप देखने वालों को शायद यहाँ भी 'श्रुति कटुत्व' अथवा 'खिचड़ी' भाषा की शुष्कता का अनुभव हो किन्तु भाषा के इस स्थूल आवरण के पार भी, जिन्हें कुछ देखने समझने व अनुभव करने का सामर्थ्य है वे इन दोनों शब्दों की सूक्ष्मता से प्रभावित हुये-बिना भी नहीं रह सकते।

प्रेम मे आसुओं का कितना ऊँचा स्थान है, प्रेमा-श्रुओं का क्या महत्व है इसे समझने के लिए कवीन्द्र के इन भावों को भी समझना अधिक सुन्दर होगा।

"In the moon thou sendest thy love-letters to me, said the night to the sun."

"I leave my answers in tears upon the Grass." आशय यह कि आवर्तन की यह क्रीड़ा आँसुओं का यह व्यापार सृष्टि के प्रत्येक अणु परिमाणु मे पाया जा रहा है। उस असीम के महा मिलन के लिये उस अनन्त के साक्षात्कार के लिए किसका हृदय लालायित न होगा। विश्व व्यापी विरह की वेदना का यह चित्रण जायसी ने भी अपने पद्मावत मे अत्यन्त सफलता के साथ किया है।

"उन बानन अस को जु न मारा, बेधि रहो सिगरो संसारा।
गगन नखत जो जाहि न गने, वे सब बानि ओहि के हने" ॥

कबीर में भी विश्व व्यापी विरह के ऐसे ही कोमल भाव-चित्र यत्र तत्र देखने को मिलते हैं।

खण्डन मण्डन की दृष्टि से की गई उपदेशात्मक रचना को शुद्ध साहित्य की कसौटी पर कसना कहाँ तक उचित होगा और फिर उसी आधार पर किसी कवि का मूल्य निर्धारित करना कितना अनुचित होगा, सहज हीं इसका अनुमान किया जा सकता है। एक तो खण्डन मण्डन का विषय ही स्वतः गद्यात्मक है दूसरे इस क्षेत्र में काव्यगत् कोमलता का आनन्द प्राप्त करना तो मृग-मरीचिका को निमन्त्रण देने के हीं समान होगा। जब विषय ही परुष है तो भावानुगामिनी भाषा अपने आप परुष हो जायगी, यही कारण है; कि कबीर की इन रचनाओं मे कोमलता की वह छाप नहीं पड़ पायी है जो उन्ही की रचनाओं मे हमें अन्य स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है किन्तु ये रचनायें कबीर का इष्ट नहीं हैं यही कारण है कि इनके साथ उनके हृदय की अनुभूति अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकी। हाँ शुद्ध साहित्य की दृष्टि से की गई उनकी रचनाओं में उनके निश्छल व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी है और इन रचनाओं का विषय प्रमुखतः ईश्वरोन्मुख प्रेम ही रहा है।

कबीर के व्यक्तित्व का मूल्य भी इसी क्षेत्र में आंका जा सकता है यहाँ उनके

भाषा, भावों के साथ और उनकी अनुभूतियाँ वर्ण्य विषयों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने में भी नही चूकतीं। भाषा का रूप भी वहाँ अधिक कोमल व निखरा हुआ दीख पड़ता है। शुद्ध सत जीवन व्यतीत करने वाले संत तो आडम्बरों से वैसे भी दूर रहते है। फिर आडम्बर कोई भी हो चाहे वाणी का या व्यवहार का। उससे उनका लगाव नहीं हो पाता। यही कारण है कि उनकी तरः पूत वाणी में अलकारों की वह मंजूषा नही दीख पड़ती जो तुलसी, सूर, बिहारी, देव अथवा पदमाकर की रचनाओं मे स्थल स्थल पर दीख पड़ती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि वे वाणी के कलात्मक सौन्दर्य से शून्य ही थे। नहीं, अभिव्यंजना के इस पक्ष का भी उन्हे परिचय था। किन्तु दूसरों से उधार ली गयी काव्योभावोच्छिष्ट के सहारे वे अपनी वाणी के मन्दिर का निर्माण करना न जानते थे। और न इधर उधर से कतरब्योंत कर ही वे अपनी रचना की नवीनता का दम्भ भरना जानते थे। अपनी विशेषता व निजी मौलिकता के महत्व को वे अच्छी प्रकार जानते थे। इस सम्बन्ध मे उन्होंने अपने मत को एक स्थल पर बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

लाया साखि बनाय कै, इत उत अक्षर काटि।
कहइ कबीर कब लगि रहै, जूठी पत्तल चाटि॥

विरोधाभास, यमक एवम् उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के सुन्दर उदाहरण भी यत्र तत्र उनकी रचनाओं मे देखने को मिलते है। "घर राखे घर होत है, घर राखे घर जाय" में विरोधाभास एवम् जो "पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर" मे यमक आदि अलंकारो की सफल अभिव्यक्ति हुई है। कही कही तो उनकी रचनाओं में संस्कृत के छन्दों का भावानुवाद भी बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। उनके "वृक्ष कबहुँ नहि फल भखै" में परोपकाराय सता विभूतयः एवम् "सात समदि की मसि करौं" मे असित गिरि समस्यात कज्जलम् सिंधु पात्रे" का सरल भावानुवाद भी देखा जा सकता है।

ईश्वरोन्मुख प्रेम के अतल-अकूल सिंधु मे निमग्न उनके हृदय की अध्यात्म वेदना तो उनकी अपनी सपत्ति है। इस क्षेत्र में तो वे प्रसाद महादेवी व मीरा से भी कहीं कहीं बहुत आगे दीख पड़ते है। यद्यपि 'प्रसाद' व महादेवी की जैसी लाक्षणिक भाषा का उनमे अभाव है किन्तु भाव गांभीर्य व अतिसवेदना के स्वाभाविक प्रकाशन में वे कहीं कहीं इन दोनों से ऊपर उठ गये हैं। यह बात और है कि उनकी वेदना हाहाकार स्वरों में गरज गरज कर छलकी न पड़ती हो, तो भी एक रसता व एकलय की उसमें कमी नहीं। 'मीरा' के साथ तो वे इस क्षेत्र में सबसे अधिक सामंजस्य स्थापित करते हुए देखे जा सकते हैं, और जिसका कारण है उन दोनों की आडम्बर हीन वाणी का नैसर्गिक संगीत।

राजस्थान के अमर गायक महाराज पृथ्वीराज

विक्रम की १७ वीं शताब्दी में बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज ने राजस्थानी (डिंगल) में एक अमर काव्य का प्रणयन कर, अपने आराध्य श्रीकृष्ण का गुण गान, जिन ओज एवम् प्रसाद पूर्ण शब्दों में किया है, उसकी गूँज राजस्थान के ही भावुकों को नहीं अपितु राजस्थानी जानने वाले, अथवा उससे परिचित होने का प्रयास करने वाले किसी भी भावुक को मुग्ध किये बिना नहीं रहती। यद्यपि राजस्थानी का साहित्य कुछ गिरी हुई दशा में है फिर भी हमें यह न भूलना चाहिये, कि मीरा, रैदास, चन्द्रसखी एवम् हरिदास आदि भक्त कवियों को जन्म देने वाली भूमि भी राजस्थान ही है। मीरा और चन्द्रसखी के पद भी उतने ही लोक प्रिय हैं जितने तुलसी एवम् सूर के। राजस्थान की इसी वीर प्रसवनी पुण्य भूमि पर, महाराज पृथ्वीराज का जन्म मिती मार्गशीर्ष १ कृष्ण संम्वत् १६०६ में हुआ था। आपके पिता का नाम कल्याण जी था। और आप रीवा नरेश, राम-सिंह जी के छोटे भाई थे। मुसलमानों से, तंग आकर, महाराणा प्रताप के भेजे हुये पत्र का जैसा ओजपूर्ण पद्यमय उत्तर महाराज पृथ्वीराज ने, उन्हें दिया था वह वीरता के कोष की अमर निधि के रूप में, आज भी सुरक्षित है। उसका एक चरण इस प्रकार है—"मनको मरद मानी प्रबल प्रताप सिंह, बब्बर ज्यों तड़प अकब्बर पै आवैगो" इस वीर दर्पपूर्ण चरण के रचयिता–महाराज पृथ्वीराज ही, राजस्थानी के अमर काव्य, बेलिक्रिसन रुकमिणीरी के भी प्रणेता हैं। प्राचीन ग्रन्थों की खोज करने वाले कर्नलटाड ने तो इनकी कविता में १० हजार घोड़ों का बल बताया है। वस्तुतः महाराज पृथ्वीराज राजस्थान के सर्व श्रेष्ठ कवि हैं भी। चन्द्रवरदाई से तो, उनकी तुलना करना उनका अपमान करना है।

महाराज पृथ्वीराज को अमरत्व प्रदान करनेवाले काव्य का नाम है बेलिक्रिसन रुकमिणीरी इस महाकाव्य में वर्णित कथा का आधार है भागवत्। संक्षेप में हम उसे कृष्ण एवम् रुकमिणी के परिणय की कहानी भी कह सकते हैं। जो इस प्रकार है विदर्भ देश के राजा भीष्मक की पुत्री का नाम है रुकमिणी। उसके बड़े भाई क नाम है रुक्म। रुकमिणी के अप्रतिम सौन्दर्य की झलक कवि के शब्दों में इस प्रकार है—

रामा अवतार नाम ताइ रुकमिणि, कनक बेलि चिहुं पानकिरि।
कलकत हंस कीर चौ बालक मानसरोवर मेरू गिरि

आशय यह है कि सुमेरु गिरि पर दो पत्तों वाली स्वर्णलता के समान सुन्दर

वह बालिका बालक्रीड़ा करती हुई इस प्रकार अनुभव होती है, जैसे मानस में क्रीड़ा करता हुआ हंस का बच्चा।

शैशव की निशा समाप्त होते ही रुकमिणीके जीवन में विछलती हुई हरियालीसे तर धूप के समान स्निग्ध यौवन का प्रवेश होता है। और तब उसके लिए एक योग्य वर की भीखोज की जाती है। उसके पिता श्री कृष्ण को ही रुकमिणी का वर बनाने की अभिलाषा प्रकट करते है। रुकमिणी का अग्रज इस प्रस्ताव का विरोध करता है। और स्वतः चंदेरों के राजा शिशुपाल को, एतदर्थ निमन्त्रण देता है। निश्चित तिथि पर, शिशुपाल अपनी सेना के साथ आ धमकता है। उधर रुकमिणी भी श्रीकृष्ण के पास, एक ब्राह्मण के हाथ अपना संदेश भेजती है। श्रीकृष्ण भी अपनी सेना के साथ, उसी अवसर पर उपस्थित होते है। रुकमिणी, महादेव के मन्दिर में पूजन के बहाने, घर से बाहर निकल आती है। श्रीकृष्ण वहां उसे अपने रथ में बिठा लेते हैं। रुक्म अपनी सेना के साथ श्रीकृष्ण का पीछा करता है। दोनों सेनाओं में घोर युद्ध होता है। अच्युत श्रीकृष्ण के सामने उसे परास्त होना पड़ता है। किन्तु वे उसे विरूप भर कर देते हैं मारते नही। रुकमिणी को श्रीकृष्ण अपने घर ले जाते है। तत्पश्चात् कवि ने, रुकमिणी की रजत क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। वस्तुतः इस खण्ड काव्य की कथा भी इतनी ही है। किन्तु इस लघु–कथा के अन्तर्गत ही, कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा, जिन नवीन प्रसंगों की, हृदयहारी कल्प–नाओं, एवम् चित्रोपम् प्रकृति की अभिनव शृष्टि की है, उसे देख कर बरबस हमे कहना पड़ता है–'अवशि देखिए, देखन योगू'।

रसों मे शृंगार की व्यापकता, निर्विवाद रूप से सिद्ध ही है। शृंगार का जिस विशाल क्षेत्र मे अपना साम्राज्य फैला हुआ है, रसों मे उतना व्यापक आधिपत्य शायद ही और किसी को प्राप्त हो। उसकी विशाल व्यापकता के ही कारण, आचार्यों को उसके दो भेद भी करने पड़े हैं। और फिर उसमे नायक नायिकाओं की दृष्टि से तो, भेद विभेदों की एक लम्बी चौड़ी कहानी ही बन जाती है। किन्तु शृँगार जितना व्यापक है– उतना ही सीमित अथवा गंभीर भी। समुद्र जितना विशाल है, उतना ही अतल अगाध भी है। अस्तु शृंगार के सम्बन्ध में भी–उसकी गंभीरता उसकी स्वाभाविकता ही है। गम्भीर और सीमित वह यों है, कि उसके परख की कसौटी है मर्यादा। मर्यादा की इस निर्भ्रान्त व भाव कसौटी पर, कसने पर यदि शृंगार का सोना खरा उतरता है, तो वह शृंगार-शृंगार है— अन्यथा तो वह शृंगार नही संहार है। संहार हमारे नैतिक मान्यताओं का, चारित्रिक आदर्शों का, यानी संहार हमारे जीवन की संपूर्ण पवित्र कोमलता का। यही पर हमें अपने मानस प्रणेता की स्मृति हुए बिना नहीं, मानती। राम चरित् के उस अमर गायक को, आज भी हम इतनी ऊँची दृष्टि से क्यों देखते हैं विहारी, देव, पद्माकर सभी उनके समक्ष, निर्वाणोमुख नक्षत्रों की

भाँति ही क्यों दिखाई देते हैं, इसीलिए, कि नखशिख श्रृंगार का वर्णन करते हुए भी-भारती के उस उपासक ने, कहीं भी अश्लीलता नहीं आने दी। आदि कवि ने, यदि काव के रूप में, सीता के स्तन् प्रदेश पर चन्चु प्रहार की चर्चा की, तो मानस प्रणेता ने, थोड़ा संभलकर कहा— ऐसा नहीं—'सीता चरण चोंच हति भागा।' और आपने देखा कि, उभय-साफल्य का रूप कितना निखर उठा। साँप भी मर गया और लाठी भी नहीं टूटी। भारतीय संस्कृति की प्राणसंपोषिका, शिष्ट मर्यादा का उल्लंघन भी नहीं हुआ— और अभिव्यक्ति मे भी कोई शिथिलता नही आ सकी। धन्य हैं, ऐसे कलाकार और धन्य है उनकी पावन वाणी। उन्होंने कहा था, "नतु और सबै विष बीज बये, हठि हाटक काम दुहा नहि कै।" मै कहूँगा कि जिसने इस महात्मा के हृदय से निकली हुई पवित्र भाव सरसी में दो गोते नही लगाये, उसने कुछ भी न किया। इसे तो यही छोड़िये, सीता की खोज मे भटकते हुए, विरही राम के मुख से संपूर्ण नखशिख का वर्णन, (गज, केहरि, चन्द्र, विद्युत, मधुकर एवम् मृग आदि प्राकृतिक उपमानों की योजना द्वारा) बाबा जी ने, जिस शालीनता के साथ कराया है वह श्रृंगार प्रेमियों के लिये एक पहेली है और श्रृंगारिक कवियों के लिये एक चुनौती। उपमान तो सारे के सारे उपस्थित और उपमेयों का उल्लेख तक नहीं। प्रसंगावरोध, के लिए तो आप क्षमा करेंगे ही, माता के समक्ष, पिता के विरह-विदग्ध हृदय का संदेश पुत्र द्वारा कहलाना। एक माता के सजल, स्नेहल हृदय की मूक व्यथा का निवेदन उसी पुत्र के द्वारा, पिता के सम्मुख कराना, क्या शिष्ट श्रृंगारी भावना की सबसे कठिन परीक्षा नहीं ? और उसमें सफलता प्राप्त करना क्या शिष्ट श्रृंगार-रचना का सर्वोच्च प्रमाण प्राप्त करना नही ? गौरव व गर्व की बात है, कि गोस्वामी जी ने इस क्षेत्र मे भी पूरी सफलता प्राप्त की है। इस कोमल एवम् शिष्ट प्रसंग की झाँकी, जिन्हें देखनी है, वे आज भी मानस के 'सुन्दर काण्ड' की कुछ पंक्तियों का रसास्वादन कर सकते हैं।

अब आइये, "रुकमिणीरी" के सहज श्रृंगार का भी कुछ अवलोकन किया जाये। वैसे तो मानस की भाँति, इस महाकाव्य की प्रस्तावना भी, जिस सजधज, व तैयारी के साथ आरंभ होती है, उसे देख कर हमें, यह कहना ही पड़ता है, कि जैसे कवि कर्म के संपादन की अभीष्ट तैयारी, कवि ने बहुत पहले से ही कर रखी हो। अथवा कविता के अखाड़े में, उतरने के लिए, जैसे कवि ने बहुत पहिले से ही अपने को हृष्ट पुष्ट बना लिया हो। मंगला चरण के उपरान्त अपनी, काव्य कौशल संबन्धी अनभिज्ञता की सफाई देते हुये, कवित विवेक एकनहिं मोरे— की चिर प्राचीन शैली पर, 'बेलि' के प्रणेता ने भी अपने उद्‌गार प्रकट करते हुये कहा—

> जिणि शेष सहस फण, फणि फणि, विवि जीह, जीह जीह नवौ जस।
> तिणि पार न पायो त्रीक्रम क्रमण हेंडरा .. किसौ क्स

आशय यह, कि सहस्र फणों वाले शेषनाग जिनके एक एक फण में दो दो

जिह्वायें हैं, जब उन्होंने प्रभू के गौरव-गान मे अपने को— असमर्थ पाया, तो फिर मुझ मेढक (डेंडरा) के वचनों का सामर्थ्य ही कितना। इसके उपरान्त कवि ने रुक्मिणी के जन्म, शैशव विकास एवम् यौवनागम के चित्रण में अपने कौशल का पूर्ण प्रदर्शन कराया है। शैशव कालीन रुक्मिणी के लिए कवि ने, मानसरोवर में क्रीड़ा करते हुए हंस के बालक की कल्पना की है। धीरे धीरे हंस का यह शिशु शावक किशोर होता है, और तब एक दिन कनक किरण के अन्तराल मे लुक छिप कर चलने वाले सौन्दर्य की लजीली लालिमा से उसका मुख मण्डल उद्दीप्त हो उठता है। कवि, उसके यौवनागम के समय अरुणोदय की तुलना करता हुआ कहता है, कि रुकमिणी के मुख पर यौवन के आते ही एक लालिमासी दिखाई देती है। मानो वही ऊषा की लाली है। और एक दिन तो जब गुलाबजल में स्नान करने के उपरान्त, धवल वस्त्रों को धारण कर रुकमिणी अपने बालों में धूप देने के लिए उन्हें दोनों हाथों से मुक्त कर रही है— उस स्थल पर कवि की उत्प्रेक्षा कितनी स्वाभाविक बन पड़ी है। 'बेनी छोरि झारि जो बारा–सरग पतार होय अँधियारा' की जैसी अस्वभावोक्ति को पढ कर यहाँ आपको अपना सिर खुजलाने की आवश्यकता न होगी। यहाँ तो कवि की युक्ति के साथ ही आपको भी अपनी सहज सहमति मात्र दे देनी होगी। कवि की उत्प्रेक्षा इस प्रकार है—

लागी विहुँ कर धूपणौं लीधै, केस पास मुक्ता करण।
मन मृग चै-कारणै मदन चौ, वागुरी जाणौं विस्तरन॥

धूप देने के लिए रुकमिणी ने दोनों हाथों से अपने बालों को मुक्त करना आरंभ किया, उस दृश्य से प्रभावित होकर कवि यह कल्पना करता है, कि मानो मदन रूपी लुब्धक ने मन-मृग को फँसाने के लिए, काम का जाल बखेरना शुरू कर दिया हो। रुकमिणी के कंठ में पड़ी हुई पवित्री की शोभा का वर्णन करते हुये एक अन्य स्थल पर कवि कहता है—

कठपोत कपोतकि कहुँ नील कंठ, वडगिरि कालिन्द्री वली।
समै भाग कर शंख शंखधर ग्रहियो, एकणि अंगुली॥

काले रेशमी डोरे मे पुही हुई पवित्री को धारण किये हुए नायिका के कण्ठ को कपोत कहा जाये या नील कण्ठ कहा जाये अथवा यमुना से परिवेष्टित हिमालय कहा जाये या फिर उसे वह शंख ही मान लिया जाये जिसे श्रीकृष्ण ने बीचो बीच एक उंगली द्वारा पकड़ रखा हो। 'सदेह' की यह व्यंजना कितनी सुन्दर बन पड़ी है। अस्वाभाविकता का तो जहाँ नाम निशान नहीं है। एक अन्य स्थल पर शृंगार सजा से सुशोभित रुकमिणी के अप्रतिम सौन्दर्य की व्यंजना करते हुए तो कवि ने कमाल ही कर दिया है रुकमिणी ने अपने मस्तक पर कुंकुम का तिलक शिव के तीसरे नेत्र के सदृश बना रखा है फिर शिव-ललाट पर स्थित अर्धचन्द्र के समान ही उसने भी

अपने मस्तक पर अर्धचन्द्र बना दिया है। इस पर कवि कल्पना करता है कि मानों रुकमिणी ने शिव के तीसरे यानी आग्नेय नेत्र के धुएँ एवम् चन्द्रमा के कलक इन दोनों ही दोषों को दूर कर एक नवीन निर्दोष सृष्टि की रचना कर डाली है। कवि की इन सरस पंक्तियों को पढ़ते पढ़ते हमारा ध्यान अनायास ही जायसी की 'चांदकलंकी वह निकलंकू' एवम् मानसकार की 'अवगुण बहुत चन्द्रमै तोही' की ओर खिंच जाता है। रुकमिणी की नासिका के अग्रभाग मे पड़े हुये मंद-हिल्लोलित मोती का भी तो कुछ हाल सुनिये। कवि की कल्पना है कि रुकमिणी की शुक चंचुवत नासिका के अग्रभाग में पड़ा हुआ मोती ऐसा अनुभव होता है मानों शुकदेव भागवत् का पाठ कर रहे हों।

रसों में जिस प्रकार श्रृङ्गार का, अलकारों में रूपक अथवा साँग रूपक का भी वैसा ही महत्व माना जाता है। तुलसी, सूर एवम् केशव आदि प्रसिद्ध हिन्दी कवियों ने शुद्ध एवम् प्रेम दोनों ही क्षेत्रों में इस अलंकार विशेष का जो कौशल प्रदर्शित किया है वह आज भी हमें चमत्कृत किये बिना नहीं रहता। सूर ने तो इनका आश्रय लेकर अपनी बंशी को विश्वविजयी बनाने की भी चेष्टा की है। यद्यपि यह चेष्टा चेष्टा का ही रूप लेकर समाप्त हो गई है। तो भी 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' की दृष्टि से तो उसका महत्व है ही। इसी प्रकार गोस्वामी जी ने भी विषयासक्त मन को मछली का रूप देने की सफल चेष्टा की है। कृपा की डोरी लगा कर विषय की उस गहन गंभीर जल राशि से मन-मीन को बाहर निकाल कर अपने आराध्य के श्री चरणों मे शरण पाने की उनकी अपील कितनी प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। बेलि के रचयिता ने भी एक स्थल पर उसी साँग रूपक की सफल उद्भावना इस प्रकार की है—

भ्रू-जु सहरी नयन मृग जूता, विसहर शशि कि अलक वक्र।
बाली किरि वाँकिया चन्द रथी, तार्टक चक्र ॥

भावार्थ यह कि रुक्मिणी का मुख मण्डल एक रथ की भाँति है। उसकी भौहे ही जुएँ के सदृश है। नयन मृग उसमें जुते हुए है। कानों मे पड़ी हुई बालियाँ ही रथ के बाँकिए है। कर्णफूल ही मानों उसके पहिए हैं। और मुख चन्द्र ही उसका सारथी है। इसे हम कवि की नवीन उद्भावना भी कह सकते हैं। इसलिये कि नवीन होते हुए भी यहाँ दूर की कौड़ी लाने अथवा अतिशयोक्ति-सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयास नहीं किया गया है। और सच पूछा जाये तो समस्त महाकाव्य मे एक दो स्थलों को छोड़कर स्वाभाविकता का साथ कवि ने कहीं नहीं छोड़ा है। बिहारी की खण्डिता अथवा प्रोषित पतिका नायिकाओं की भाँति 'बेलि' की नायिका न तो इतनी जीर्ण ही हो जाती है कि श्वाँस-प्रश्वाँसों की गति से ही उसका शरीर आगे पीछे खिसकता है और न वह इतनी सुन्दर ही है कि उसके घर के पास बिना किसी अच्छे ज्योतिषी की र य लिए तिथियों क पता भी न लगे केवल बाल विनोद की सामग्री

उपस्थित करना इस कवि का अभीष्ट नहीं जान पड़ता। यही कारण है कि रीति युग की शृङ्गारिक उच्छृङ्खलताओं से यह कवि अपने कर्म के सम्पादन में बहुत कुछ अछूता ही रहा है।

हाँ, तो प्रकृति की हरी भरी गोद में पलकर बड़ी हुई 'वर्ड्सवर्थ' की अल्हड़ लूसी की भाँति 'बेलि' की रुकमिणी भी लता-घूँघट से सलज्ज झाँकती हुई नव-कुसुम कलि-का-सी ही प्रतिभासित होती है। कवि की उत्प्रेक्षा है कि नव शृङ्गार लज्जा से सुशोभित ऐसी रुकमिणी के भूषण ही पुष्प हैं। पयोधर फल हैं। शरीर ही लता, एवम् वसन ही पत्र है। प्रकृति का यह मानवीयकरण, हमें एक क्षण के लिये यह सोचने को बाध्य कर देता है कि प्रकृति की स्वच्छन्द गोद में, उसी की स्निग्ध शीतल छाया में वल्कल वसन धारण कर निर्झरों का जल पीकर कन्दमूल फलों का असन ग्रासकर परम स्वच्छ-न्दता से इधर उधर घूमने वाला-दार्शनिक 'रूसो' की सबसे कोमल एवम् सबसे उदार कल्पना का वह भोला भाला मानव कितना निरीह उदार एवम् सरल रहा होगा।

अब मैं आपको 'बेलि' में बहती हुई भक्ति की उस धारा की ओर भी ले जाना चाहूंगा, जहाँ आपत्तियों से घिरे हुये स्वाभिमानी भक्त की वह पुकार-गुहार भी सुनाई देती है, जिसे सुनते ही भक्तवत्सल का सिंहासन सिहर उठता है और वे तत्क्षण नग्नपद--उसकी रक्षा के लिये दौड़ पड़ते हैं। भगवान कृष्ण के पास 'बेलि' के प्रणेता ने रुकमिणी द्वारा जो संदेश स्वरक्षार्थं भिजवाया है उसमें विह्वल भक्त के काँपते हुये कंठ की कातर ध्वनि--कहाँ तक समा सकी है, इसका निर्णय भी आप ही कीजिए। रुकमिणी अपने संदेश में कहती हैं। 'हे प्रियतम! आपके होते हुये शिशुपाल का मुझे अपनी पत्नी बनाने का प्रयास तो ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार सिंह की बलि को प्राप्त करने के हेतु शृगाल का परिश्रम। 'सिंह बधुहि जिमि शसक सियारा' की पंक्ति भी हमें यहीं स्मरण हो आती है। इसके आगे वह कहती है, कि हे बलि के बाँधने वाले, श्रीकृष्ण! जब आपने बारह अवतार धारण कर, पृथ्वी रूप में, पाताल से मेरा उद्धार किया था--तब आपको किसने संदेश भेजा था। बाराह का अवतार लेकर पृथ्वी रूप मे, पाताल से मेरा उद्धार करने के लिये, आपसे किसने कहा था? और मंदराचल की मथानी बनाकर, समुद्र मंथन के बाद, लक्ष्मी रूप में, जब आपने मुझे शरण दी तब, किसकी शिक्षा से आपने ऐसा किया था। समुद्र को बाँध कर सीता रूप में, लंका से मेरा उद्धार आपने किस प्रकार किया था। और आज जब चौथी बार उसी आपत्ति में डूबने जा रही हूँ--तब फिर मेरे उद्धार में विलंब क्यों? भगवान को उनके "सहजबानि सेवक सुखदायक" स्वरूप की स्मृति कराते हुये--स्वाभिमानी भक्त के हृदय की, इससे अधिक, विशद अभिव्यक्ति ही और क्या हो सकती है। और इस कातर पुकार पर भी, यदि उन्हें रहम न आया, तो इसमें भक्त का क्या दोष?

भक्ति एवम् शृंगार के, इस विवेचन के अब मैं साहित्य जगत के, उस

पक्ष पर भी थोड़ा सा निवेदन कर देना चाहूँगा जहाँ कंकन किंकन की, रनकार झनकार नहीं, प्रत्युत आकर्ण खिंचे हुये धनुषों की टंकार सुनाई देती है। जहाँ सपनों का जलूस नहीं वरन् नग्न एवम् भीषण सत्यों का आलम दिखाई देता है। जहाँ बादलों की हलकी श्यामलता में गुलाबी बिजलियाँ—अननें मनुहार की तरल क्रीड़ा में तल्लीन होकर, अभिसारिकाओं का अभिनय नहीं करतीं—वरन् जहाँ पर आग्नेय बाणों के विषम आघातों से छिदे हुये नर मुण्डों की नभ चुम्बी शिला पर शिव के ताण्डव नृत्य की प्रलयकरी तालें सुनाई देती हैं। जहाँ शृंगार का नहीं—रौद्र एवम् वीर का साम्राज्य है, जिनका साथी बनता है वीभत्स। जहाँ पद्माकर व देव नहीं, प्रत्युत भूषण अपनी करामात दिखाते हुये देखे जा सकते हैं।

तो रुकमिणी की पूर्व प्रार्थनाओं के अनुसार भगवान कृष्ण उसे चुपचाप देव मंदिर से अपने साथ लिये जा रहे है। कुछ देर उपरान्त, जब रुक्म को इसका संदेश मिलता है, वह एक बड़ी सेना के साथ, श्रीकृष्ण का पीछा करता है। निकट पहुँच कर उसने श्रीकृष्ण को युद्ध के लिए जो ललकार दी है— उसे सुन कर किसकी बाहुयें न फड़क उठेंगी। कवि के शब्दों में ही (डिंगल वाणी में) उसका आनन्द क्यों न लिया जाये।

लारीवरि अखि चित्राम कि लिखिया।
निहिषरता नखवैं नर।।
माखन चोरी न हुवै माहब।
महियारी न हुवै माहर।।

भावार्थ यह कि हे ग्वाले ! सूत के धोखे कपास खाने का प्रयास न कर। जिसे तू भगाये लिये जा रहा है— वह कोई गूजरी (ग्वालिन) नहीं है और जिस कठोर धर्म के सम्पादन के लिये तूने यह साहस किया है, वह माखन चोरी नहीं है।

इसके उपरांत तो फिर रणचण्डी का वह भीषण ताण्डव देखने को मिलता है, जिसे देख कर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि बेलि के रचयिता का, वीर रस पर भी उतना ही अधिकार है, जितना कि शृंगार पर। केशव का युद्ध-कालिका अथवा युद्ध-वर्षा का वह प्रसिद्ध रूपक, जिसके बल पर कभी कभी उन्हें बहुत ऊँचा उठा दिया जाता है 'बेलि' के युद्ध रूपकों के समक्ष बहुत फीका दिखाई देता है। प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए 'बेलि' के दो एक युद्ध रूपक भी आपके समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक समझता हूँ। युद्ध एवम् वर्षा का रूपक बाँधते हुये कवि कहता है कि "दो प्रलयकारी सैन्य दल, युद्ध के लिए आमने सामने होकर निकले, मानों दो काले बादलों की घटायें, आमने सामने होकर निकली हैं। अथवा युद्ध में रक्त वर्षा का आसार जान कर, मानों दोनों ओर से योगिनियों की जमात चली आ रही हो लौह कवचों के ऊपर आघातों के शब्द इस प्रकार हो रहा है जैसे समुद्र में वीर रस के मेंढ

की बड़ी बड़ी बूँदे पड़ रही हों। मेह के साथ वीर रस की कल्पना द्वारा कवि ने, अपने भाव-चित्र को कितना संश्लिष्ट बना दिया है। सहज ही इसकी अनुभूति की जा सकती है।

अनेक वीरों को जन्म देने वाली राजस्थान की भूमि और युद्ध वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त पड़ने वाली वहाँ की भाषा (डिंगल) दोनों का ही अपना निजी महत्व है। युद्ध क्षेत्र का सजीव चित्र खड़ा कर देने वाले डिंगल के इन स्फूर्त व ओजस्वी शब्दों की, एवम् कवि की सतर्क शब्द चयन कला की झाँकी भी यहाँ देखी जा सकती है। 'घन घमंड गरजत नभ घोरा' मे जो ध्वन्यात्मकता परिलक्षित होती है, वह यहाँ भी अपने पूर्ण विकसित रूप में देखी जा सकती है। युद्ध में बाणों की लड़ाई समाप्त हो चुकी है, अब भालों से युद्ध किया जा रहा है। कवि कहता है—

"कुंतकिरण, कलकलिया, कलि अकलि, बरजति—
विशखि, विवरजति वाउ ॥
धड़ि धड़ि धबकि धार धारू जल, सिहरि—
सिहरि समरलै सिलाउ ॥

तुमुलयुद्ध के भयावह दृश्य की कैसी चित्रोपम, रोमांचकारी अभिव्यक्ति कवि ने इस स्थल पर की है। जिसका संक्षिप्त आशय यह है कि युद्ध मे सतत होकर, भाले रूपी सूर्य की किरणें, चमचमाने लगी। बाणों का चलना बंद हो गया, मानों हवा का चलना बंद हो गया। शरीर शरीर पर तलवार की धारायें चमक रही है। मानों शिखर शिखर पर बिजलियाँ चमक रही हों। उपमेय व उपमानों के बीच, अनुप्रासों की ऐसी मनोहारी छटा देख कर किस सहृदय के हृदय से प्रशंसा के दो शब्द न निकल पड़ेंगे।

तुमुल युद्ध के उपरान्त रुक्म पराजित होता है। रूपक के सहारे, इस स्थल की कवि ने जैसी मार्मिक व्यंजना की है, वह उसकी प्रतिभा का जागरूक प्रमाण है। रूपक अलंकार में उपमेय और उपमान के बीच, जितना ही अधिक साम्य होगा, उतना ही अधिक रूपक भी स्वस्थ एवम् सुन्दर होगा। इस प्रसग में पूज्य गोस्वामी जी के, इस दोहे की बार २ याद हो जाती है, जिसमें पति-वियोग की तीव्र ज्वाला में झुलसते हुए भी पति प्रेम पुनीता सीता के प्राणों के न निकलने का कारण बताते हुए हनुमान श्रीराम से कहते हैं—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, प्राण जांहि केहि बाट॥

कारागार में पड़े हुए निरपराध कैदी की असमर्थता का इससे सुन्दर चित्र ही और क्या हो सकता है। और रूपक अलंकार की इससे अधिक सजीव प्राण प्रतिष्ठा भी और किस प्रकार हो सकती है 'बेलि' के कवि ने भी, ऐसे ही सफल रूपकों की

रचना की है। एक स्थल पर विजयी श्रीकृष्ण की तुलना, लोहार के कार्य व्यापारों के साथ करता हुआ कवि कहता है कि "मानों युद्ध क्षेत्र ही लोहार का एरण है कैद मे पड़ा हुआ रुक्म ही मानो गर्म लोहा है। श्रीकृष्ण का मन साँडसी है (समसी), और उनका शरीर लोहार के बायें हाँथ की तरह है, जिसमे गर्म लोहा दबाया जाता है। भाई की दुर्दशा से प्रभावित होकर रुकमिणी के नेत्रों से जो अश्रु निकल रहे है, वही मानों लोहार के पास रखा हुआ शीतल जल है। जिसमें लोहार आवश्यकतानुसार अपनी मन रूपी साँडसी को ठंढा कर लेता है।"

अब तक तो रहा, बेलि के शृँगार, भक्ति व वीर रस का विवेचन। अंत में, मै इस महाकाव्य के अनूठे प्रकृति चित्रण के कुछ प्रसंगों को भी आपके सामने रखना चाहूँगा। महाकाव्य के लिए, जिन विशिष्ट गुणों की अनिवार्यता है, आचार्यों ने प्रकृति चित्रण को भी उनमें महत्वपूर्ण स्थान दिया है। और निःसंदेह उसकी महत्ता से कोई इनकार भी नही कर सकता। यही कारण है कि नवीन और प्राचीन, भारती के समस्त श्रेष्ठ उपासकों ने अपनी रचनाओं में थोड़ा बहुत प्रकृति चित्रण अवश्य किया है। और प्रकृति का वह कोमल मानवी प्रकरण जो छायावादी अभिव्यजना का प्राण है— हमे रासो, भक्ति एवम् रीति युग मे भी, इतस्ततः देखने को मिल जाता है। यह प्रकृति चित्रण भी कवि की तूलिका से दो रूपों मे होता है, एक रूप तो वह है, जहाँ कवि परम्परा पालनार्थ कुछ फूल-फलों का नाम गिनाकर चुप हो जाता है। दूसरा रूप वह है, जहाँ कवि प्रकृति को मानवीय व्यापारों का दर्पण मान कर मानव जगत व मानवीय भावनाओं के साथ उसका पूर्ण सामन्जस्य स्थापित करता है। 'बेलि' के प्रणेता ने भी अपने महाकाव्य में पहले प्रकार के प्रकृति चित्रण को ही अधिक प्रश्रय दिया है। तो भी उसके अनूठेपन मे कोई कमी नही आने पाई है। कवि के दो तीन छन्दों में तो प्रभात एवम् सध्या के अत्यन्त मनोरम चित्र देखे जा सकते हैं। प्रभात कालीन प्रकृति की छवि का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है—

"वाणिजा वधू गोवाछ, असइ विट, चोर चकव, विप्र तीरथ बेल।
सूर प्रकट एतला समपिया, मिलियाँ विरह, विरहियाँ मेल ॥

आशय यह, सूर्य ने प्रकट होकर सयुक्तों को वियुक्त और वियुक्तों को सयुक्त कर दिया है। वणिक वधू, गऊ का बछड़ा, व लंपट स्त्रियाँ जो अब तक संयोगावस्था में थे, अब वे विमुक्त हो चुके हैं। चोर, चकवाक एवम् तीर्थ को निकले हुए, ब्राह्मण जो अभी तक विमक्त थे, फिर संयुक्तावस्था को प्राप्त हो गए हैं। इसी प्रकार एक दूसरे पद में कवि ने कहा है, कि सूर्य ने प्रकट होकर मुक्तों को बद्ध एवम् बद्धों को मुक्त कर दिया है

"संयोगिन चीर रई कैरव श्री, घर हट ताल भ्रमर गोघोख।
दिखिपरि उगि, एतला कीधा, मोखिया बंध, बंधिया मोख ।।

संयोगिनी स्त्रियों के चीर, मथनदंड (मथानी) और कुमोदनी की शोभा जो अभी तक मुक्त थी, इन्हें फिर से बंध जाना पड़ा है। और घर, बाजार, ताले, भ्रमर व गौशालायें जो अभी तक बंद थीं, उन्हें फिर खुलना पड़ा है। प्रभात बेला में रात्रि के व्यतीत होने पर श्रीहत होते हुए चन्द्रमा को देख कर, कवि उत्प्रेक्षा करता है, मानों यह किसी ऐसी सती स्त्री का मुख हो, जिसका पति रुग्ण हो गया है।

सबसे अन्त में सांध्य कालीन प्रकृति चित्रण का एक चित्र आपके समक्ष प्रस्तुत करने के उपरान्त कवि की काव्य प्रतिभा का अन्तिम निर्णय आप पर ही छोड़ता हुआ मैं अपने निवेदन को भी समाप्त करना चाहूँगा। परिणयोपरांत, रुक्मिणी के शील-संकोचभाव का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

संकुड़ित समसमा संध्या समये रति वंछित रुकमिणि रमणि।
पथिक वधू दिठि, पंख पंखिया, कमल पत्र, सूरज किरणि ।।

आशय यह कि रति वाँछिता रुकमिणी, संध्या समय उसी प्रकार ससकोच दिखाई दे रही है जिस प्रकार प्रतीक्षा में डूबी हुई पथिक वधू की दृष्टि पक्षियों के पंख कमल के पत्र, व सूर्य की किरणें भी संकुचित हो जाती है।

अनुभूति की प्रतिमा मीरा

कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। पाठकों के मस्तिष्क में उसे ज्यों का त्यों उतार देने के लिये, या फिर उसे अधिकाधिक पाठकोपयोगी बनाने के लिये उसका श्रेणी-विभाजन भी कर लिया जाता है। और तब उसके इस विभाजन को, वैज्ञानिक विवेचन की संज्ञा दी जाती है। शिक्षक के इस शुष्क किन्तु कठोर दायित्व का, आज कई वर्षों से निर्वाह करते हुये भी मन कहता है कि कला एक अविभाज्य स्फुरणा है। उसके खंड करना या उसे विभाजित करना, तो ठीक उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार कि एक डाक्टर, किसी के फोड़े का आपरेशन कर, फिर उसे बिना मरहम पट्टी, किये हुये ही ज्यों का त्यों छोड़ दे। खंडित कला का रूप भी उतना ही विरूप हो जाता है, जितना कि एक मसले हुये फूल का, जिसकी समस्त पंखड़ियाँ बेरहमी से नोच डाली गई हों। रही बात कला के शास्त्रीय विवेचन की, तो उस संबंध में तो, इतना ही कहना होगा, कि कला, को, एक चौखटे के अन्दर जकड़ कर नहीं रखा जा सकता। उसे अत्यधिक वैज्ञानिक बनाना तो, उसके व्यक्तित्व को ही समूल नष्ट करना होगा। किन्तु उपरोक्त का यह आशय भी नहीं, कि कला नितान्त निरंकुश है; उस पर किसी का नियन्त्रण ही नहीं। कलाकार सर्वथा स्वच्छंद है। उसे किसी को अपने दायित्व का लेखा जोखा ही नहीं देना है। किन्तु यहीं पर हमारे प्रश्न की जटिलता और भी अधिक बढ़ जाती है। "कला की वैज्ञानिक व्याख्या हो भी सकती है—किन्तु उसे एक चौखटे में जकड़ कर भी नहीं रखा जा सकता"। "वह स्वतंत्र होते हुये भी बंधनमयी है"। आखिर इन दो विरोधी विचारों के अस्तित्व का अर्थ ही क्या हो सकता है? तो इस संबंध में, मुझे इतना ही कहना है, कि कला का वह विभाजन, जिसमें कला-कला न रह कर, कलाबाज़ी का रूप धारण कर ले, कला की वास्तविक प्रवृत्ति व प्रकृति के अनुकूल कभी नहीं हो सकता। उसकी शास्त्रीयता व उसकी सुबोधता बनाये रखने के लिये—हम सामान्य रूप से उसके दो विभाग कर लेते हैं। एक में वे कला-कृतियाँ आती हैं, जिनका संबंध मनुष्य के रागात्मक हृदय से होता है। और दूसरे में उन कलाओं का समावेश होता है जिनका संबंध, मनुष्य के हृदय से न होकर, मस्तिष्क प्रदेश से अधिक होता है। एक को यदि हम रागात्मक कह सकते हैं तो दूसरे को प्रज्ञात्मक।

कविता (कला) को भी साधारणतः इन्हीं दो विभागों में बाँट कर हम उसके व्यक्तित्व की रक्षा कर सकते हैं। कला के इस सामान्य, किन्तु कलात्मक विभाजन के अनुसार हिन्दी के प्रायः समस्त भक्तियुगीन कवियों को हम पहली कोटि में ही रख

सकते हैं। और रीत युग के कुछ ही कवियों को छोड़ कर अधिकांश कला की दूसरी कोटि में रखे जा सकते हैं। आधुनिक युग भी यद्यपि विज्ञान एवम् तर्क का युग है। साहित्य के क्षेत्र मे भी उत्तरोत्तर गद्य का प्रसार होता जा रहा है। प्रगतिशील विचारों के प्रकाशन का एक मात्र साधन भी वही है। क्या उपन्यास, कहानी और क्या नाटक आज सभी मानव-जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का प्रयास कर रहे हैं। तो भी हम छायावाद (रहस्यवाद) एवम् प्रगतिवाद के आधार पर भाव व कला की श्रेणी में आने वाले कवियों का नाम सुगमता से गिना सकते हैं। 'प्रसाद' पंत, निराला व महादेवी प्रभृत्ति कलाकार तो निश्चय ही, कला की भाव-कोटि में आने वाले युग-कवि है।

भक्तिधारा के कवियों में, जिनमें प्रायः सभी भावपक्ष के कलाकार हैं दादू, नानक, कबीर, रैदास आदि परम निश्छल संत कवियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये विशेष रूप से भाव-प्रवण कलाकार हैं। और कबीर का स्थान इनमें निर्विवाद रूप से उच्चतम है। इसी धारा की स्त्री-कवियों में, सहजोबाई, ताज, दयाबाई एवम् शेख आदि भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं और मीरा तो इस श्रेणी की सर्वोत्कृष्ट कवियत्री है ही।

मनुष्य स्वभावत: कोमलता व सरलता का उपासक है। उपासना का वह क्षेत्र जो अधिक जटिल न हो, जिनमें हमें अपने उपास्य की अर्चना के लिए नाना-विधि जटिल विधानों की व्यवस्था न करनी पड़ती हो—हमें अपनी ओर आकर्षित ही नही करता, प्रत्युत हम उससे बहुत दूर तक प्रभावित भी होते हैं। स्त्रियाँ स्वभावत: ही कुछ अधिक श्रद्धा—समन्वित होती है। कठोर शुष्क उपासना न तो उनकी आराधना का विषय है और न उसके लिये उनका निर्माण ही हुआ है। सूर की ये पंक्तियाँ—"कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर, सम्मुख करो पहिचानै" निश्चय ही उसी युवनियम की परिचायिका है। ज्ञान एवम् वैराग्य की अपेक्षा, भक्ति एवम् प्रेम की ओर ही अधिकाधिक आकृष्ट होने वाली नारी-प्रकृति का ही यह परिणाम है, कि कृष्ण-काव्य के कोमल प्रांगण में अपने मधुर स्वरों का मार्दव भरने वाली, जितनी सरस कवियत्रियाँ हिन्दी को प्राप्त हुई हैं, राम-काव्य के दिव्य एवम् मर्यादित क्षेत्र में उतनी क्या उसकी आधी भी नहीं दिखाई देती। शेख, ताज, दयाबाई व मीरा से लेकर आधुनिक—तोरनदेवी शुक्ल 'लली', तारा पाण्डेय, होमवती देवी, सुमित्रा-कुमारी सिनहा एवम् महादेवी वर्मा तक में उसी अक्षुण्ण भाव-धारा के दर्शन होते हैं मीरा इस परंपरा की सर्वप्रथम ही नहीं सर्वश्रेष्ठ कवियत्री हैं। महादेवी को भी हम उनके साथ ही गिन सकते हैं, और गिनते भी हैं "महादेवी आधुनिक मीरा हैं" का अर्थ भी इतना ही हो सकता है, कि मधुर की इस अक्षुण्ण परम्परा-

में आज महादेवी का वही स्थान है, जो 'गिरधरगोपाल' की अनन्य उपासिका मीरा का था।

मीरा जन्म जात विरहणी थी। कृष्ण के प्रति अनन्यानुराग का वरदान लेकर ही वे अवतरित हुई थीं। और जिन मुरली-मनोहर के लिये मुसलमान परिवार में जन्म लेकर भी, शेख को कहना पड़ा था 'हौं तो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं'; जिन रसिक शिरोमणि की अर्चना में रसखान, आलम, नजीर, प्रीतम आदि अनेक कवियों ने अपने भाव पुष्पों की भेंट की, उस नटनागर के विरह में यदि रागानुरागिनी मीरा को 'भगुवा भेस' धारण करना पड़ा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? मीरा जन्मजात विरहणी थी, भावमयी थी—यह मै अभी अभी कह चुका हूँ—और 'वियोगी होगा पहला कवि' कला के इस ध्रुव सिद्धान्त से आप परिचित ही है। 'मा निषाद प्रतिष्ठाम्' मे भी तो विरह—कविता और भावना का वही रहस्य प्रच्छन्न है। आदि कवि के हृदय का शोक ही सरस श्लोक बनकर फूट पड़ा। केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही तो अन्तर है। एक ने वियोग के दृश्य को अपनी भावुक आँखों से देखा और उसका अनुभव किया, दूसरा स्वयं वियोगी था। किन्तु परोक्ष को भी प्रत्यक्ष और अमूर्त को भी मूर्त बनाकर छोड़ना ही तो कलाकार की साधना है। अतएव अनुभूति के तारों में विरह का मिजराब क्या टकराया—मीरा विप्रलंभ व प्रेम-काव्य की अन्यतम कवियत्री के रूप में हमारे सामने आ खड़ी हुई।

अनुभूतियों का अपने वर्ण्य विषय के साथ-इतना कोमलतादम्य, अनूठे भावों की, ऐसी स्वाभाविक व्यञ्जना, आत्म निवेदन की इतनी प्रणत व विनम्र शैली, विरह की ऐसी घनीभूत पीड़ा, घायल आँसुओं की ऐसी मनहर लड़ियाँ—हमें अन्यत्र कठिनता से दिखायी देती हैं। रीतिकाल के अनेक कवियों ने, 'राधिका कन्हाई' सुमिरन, के बहाने-अपने व्यक्तिगत जीवन के कालुष्य की जैसी-गर्हित उद्भावनाएँ की, योगिराज कृष्ण एवम् आत्मस्वरूपा राधा के पवित्र स्वरूपों पर कालिमा की जैसी कूची-फेरी, आज भी हम कभी कभी, उस विष की तलछट से, तड़प उठते हैं। उन्हें पढते पढते हमें आज भी यदा कदा ऐसा अनुभव होता है, कि जैसे हमारी सांस्कृतिक चेतना को किसी ने-एकाएक झकझोर डाला हो। और तब मीरा के कोमल-पवित्र पदों की स्वरलहरी-ही हमारे घावों के लिए मरहम पट्टी का काम देती है। 'कृष्णकाव्य' के प्रणेताओं में, जयदेव और विद्यापति अपनी कोमलता के लिए चिरस्मरणीय हैं। किन्तु कृष्ण को "चोरजारशिखामणिः" के रूप मे ही-विशेष रूप से प्रस्तुत करने वाले, इन कवियों के भाषा माधुर्य को ही तो सब कुछ नही माना जा सकता। "सुवरण कलस सुरा भरा" को कोई कितना अधिक—और कब तक अपनाता रहेगा यदि मूल चेतना का स्वरूप ही विकृत है, तो वाणी का आडम्बर उसे कितना सहारा

दे सकता है, यह भी विचारणीय है। जर्जर एवम् जीर्ण शरीर पर–आभूषणों की मंजूषा बिन्हा देने से क्या हो सकता है? विद्यापति और जयदेव के सम्बन्ध में भी हम यह कह सकते हैं, कि यद्यपि उनकी रचनाओं में, गीति-काव्य के प्रायः सभी गुण व्यक्तिगत चिंतन, भावोन्माद, गेयात्मकता, शब्द व अर्थ की अभिव्यक्ति, विद्यमान है। किन्तु पवित्र प्रेम की अभिव्यञ्जना के अभाव में, 'सालन साग अलोने' की ही भाँति इन समस्त गुणों का भी कोई विशेष मूल्य नहीं रह पाता।

आद्योपान्त योगिराज कृष्ण को, 'चौराग्रगण्यम्' के रूप में पाकर हमें कभी कभी, एक खीझ सी–एक विराग सा अनुभव होने लगता है। और हमें यह जानकर, तो और भी अधिक आश्चर्य होने लगता है, कि शृङ्गार की यह परम्परा–संस्कृत-वाङ्मय से, बहती हुयी चली आ रही है। मीरा की वाणी का सौन्दर्य, अपने विषय की पवित्रता, अनुभूति की तीव्रता, व अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता पाकर एक साथ निखर उठा है। उनके स्नेहसिक्त हृदय में, जो अनुभूति जिस क्षण, जिस रूप में उठी, उसे वाणी-विलास के फेर में पड़े बिना ही, उन्होंने उसे कविता के धागे में पिरो दिया। सम्भवतः मीरा-काव्य की यही सबसे बड़ी विशेषता है। प्रकृति-व्यंजना, उनकी भाव गरिमा के प्राण हैं। उनकी सी स्वाभाविकता हमें तुलसी और सूर में भी कम दिखाई देती है। 'तुलसी' की स्वाभाविकता बहुत कुछ उस गुलदस्ते की स्वाभाविकता है, जिसे कुशल माली के हाँथों ने, काट छाँटकर सावधानी से, सकुशल संवार सुधार कर रख दिया हो किन्तु मीरा की स्वाभाविकता, उस विस्तृत वनस्थली की स्वाभाविकता है, जिसे प्रकृति स्वयमेव अपने हाँथों साजती सँवारती रहती है। "तजिए ताहि-कोटि वैरी सम" का आदेश पाकर–फिर कृष्ण के प्रेम में एक साथ, वे इतना अधिक आत्मविभोर हो उठीं, कि लोक जीवन की शुष्क साधना और सामाजिक मर्यादा के सारे बंधन अपने आप ढीले हो गए। यद्यपि कबीर की तरह का फक्कड़पन तो उनमें नहीं आ सका। और वह आ भी कैसे सकता था, नारी और पुरुष की प्रकृतियों का अन्तर भी तो सदैव ही बना रहेगा। किन्तु दूसरी ओर तुलसी का सा आत्मसंयम व मर्यादा भी उनमें नहीं दिखाई देती। और इसके लिए मर्यादा के सबसे बड़े पुजारी की आज्ञा भी तो उन्हें मिल ही चुकी थी। फिर मर्यादा के बंधन ढीले होने में देर ही कितनी? हाँ, इस क्षेत्र में वे दादू व नानक के ही अधिक निकट दिखायी देती हैं। उसका कारण है उनकी स्त्री-सुलभ कोमलता। तुलसी और कबीर का व्यक्तित्व अधिक व्यापक होने के कारण बँटा हुआ भी है। वे धर्मोपदेशक, समाजसुधारक, लोकनायक एवम् कवि सभी कुछ थे–किन्तु मीरा का व्यक्तित्व एकदेशीय था, उन्होंने तो–केवल कबीर के ढाई अक्षरों का (प्रेम का) ही अध्ययन किया था।

अंग्रेजी की यह उक्ति "How wise they are that are but fools in love" मीरा के जीवन और उनके काव्य दोनों के लिए ही अक्षरशः

सत्य प्रमाणित होती है। प्रेम के अतल अगाध सिंधु में डूब कर, भाव के मैं, जो अमूल्य मोती उनके हाथ लगे वैसे उनके अन्य समानधर्मी-समसामयिकों को बड़ी साधना के बाद भी नहीं मिल सके। इस संबन्ध में, मुझे एक घटना याद आती है। स्वर्गीय डा० बड़थ्थवाल ने बहुत खींच तानकर, मीरा शब्द का अर्थ 'ईश्वर' लेकर, और बाई का आशय 'पत्नी' लेकर, मीरा बाई से, 'ईश्वर की पत्नी' का तात्पर्य निकालने का जो भगीरथ प्रयत्न किया था, उसमें चाहे उन्हें सफलता न मिली हो, और उस रूप में चाहे मीरा 'ईश्वर की पत्नी' न बन सकी हों, किन्तु अपने जीवन की सच्ची साधना में वे निश्चय ही गिरधर गोपाल की ही एक मात्र पत्नी थीं। "जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई" में उनके उसी ध्रुव निश्चय की ही प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। सीधी सादी शैली में, उनका सा आत्मनिवेदन भी अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। रमणी सुलभ श्री की बहिन ही तो उनका साथ कभी नहीं छोड़ती। सूर का जैसा खरापन, तो इनके पदों में नहीं पाया जाता किन्तु कबीर का आत्म विश्वास, इनमें पद पद पर पाया जाता है।

मध्यकालीन राजस्थान की काव्य भाषा (डिंगल) का माधुर्य भी उनके विनय के पदों में, अपना एक स्थान रखता है। उस प्रसंग में तो उनका एक पद ही पर्याप्त होगा। अपने पूज्य प्रियतम से प्रणत-आत्मनिवेदन करती हुई, वे एक स्थल पर कहती हैं:—

"थे म्हारी सुधि ज्यूं जाणूं ज्यों लीज्यो।
पल-पल ऊभी पंथ निहारूं-दरसण म्हनि दीज्यो।
मैं तो हूँ बहु-अवगुणवाली-अवगुण सब हर लीज्यो।
मैं तो दासी थारे चरण कमल की, मिलि बिछुड़न मत कीज्यो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणाँ चित-दीज्यो॥

सजल नेत्र, पुलकित मन एवं गद्‌गद् कण्ठ से, निकली हुई उनकी यह करुण पुकार कितनी कोमल व सजल है। "थे म्हारी सुधि ज्यूं जाणूं ज्यों लीज्यो"-को पढ़ते हुए-"हमें जेहि विधि नाथ होय हित मोरा" के भाव वैदग्ध्य की स्मृति अपने आप हो आती है। विनय के इस विनयावनत क्षेत्र में मीरा हैं भी तो इस पंक्ति के प्रणेता 'तुलसी' के ही निकट। कहीं कहीं तो उनके (उन दोनों के) भाव, वर्ण्य विषय के साथ, इतना अधिक एकलय हो उठे हैं, कि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती, कि एक ही क्षेत्र के दो भावुक कलाकारों में बाह्य वैषम्य होते हुए भी मूलतः कोई अन्तर नहीं होता। 'विनय के' प्रणेता ने अपने उपास्य के कर कमलों की वंदना करते हुए एक स्थल पर कहा है "कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ शीस मेरे"। मीरा दासी अपने गिरधर गोपाल के चरण कमलों पर भावों की सुरभित सुमनांजलि, बखेरते हुए कहती है "मन रे परस हरि के चरन' इन दोनों पदों को आद्योपान्त पढ़ने के

बाद, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है, कि चरण-कमल, व कर-कमल का अन्तर छोड़ कर मूल चेतना व प्रेरक शक्ति इन दोनों पदों में एक ही है।

अपनी दीनता और अपने प्रभू की सर्वशक्तिमत्ता का स्मरण, अपनी पापपीनता व अपने उपास्य की अनंत पतितपावनीशक्ति की याद, विनय व भक्ति का एक अविभाज्य अङ्ग है। "राम सो बड़ो है कौन मोसों-कौन छोटो, राम सों खरो है कौन मोसो कौन खोटो," की शैली पर लिखे हुए भावमयण आत्मनिवेदन की कमी मीरा में भी नहीं है। हाँ अन्तर इतना ही है, कि तुलसी ने यदि विनय की है, तो मीरा ने अरज। 'हरि म्हारी सुणज्यों अरज-महराज,' "प्रभु जी मैं अरज करूँ छूँ मेरो बेड़ो लगाज्यो पार" आदि अनेक पदों में, उनकी अपनी करुणा व दीनता की झाँकी देखी जा सकती है।

यह तो रहा, मीरा के भक्त हृदय का संक्षिप्त परिचय। किन्तु उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक दूसरा रूप भी है। और वह है उनका विरहविधुरा नारी स्वरूप। सच पूछा जाये तो यह रूप ही उनका सच्चा साहित्यिक रूप है, जिसके समक्ष भारतीय ही नहीं अपितु विश्व साहित्य, आश्चर्य व श्रद्धा की दृष्टि से नतमस्तक है। उनकी प्रेम साधना का मूल्यांकन करते हुए—भक्त प्रवर नाभादास ने एक स्थल पर कहा है—"सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट-कलजुगहिं देखायो"। कलजुग में भी-गोपी प्रेम की सफल साधना का श्रेय सचमुच मीरा को ही है। विरह की जैसी तीव्र एवम् एकान्तिक अनुभूति 'साँवलिए की इस पत्नी' को हुई है, वैसी शायद ही कभी किसी को हुई हो। प्रतीक्षा-पुलक-अपलक नेत्रों से, प्रियतमागमन की प्रतीक्षा करते हुए वे कभी भी थकती नहीं। निराशा उन्हें भी होती है, होनी भी चाहिए। किन्तु उससे उनकी पावन साधना में कोई व्यवधान नहीं आ पाता। अनुरागमयी साधना का वह तार कभी नहीं टूटता जो प्रेम के सितार का सबसे बड़ा आधार हुआ करता है। अपने जन्मजन्मान्तरों के संगी को, अपने हृदय का एक एक कोना, खोलकर दिखा देने के लिए उत्सुक अपने रंध्ररंध्र की वेदना से परिचित करा देने के लिए प्रतिपल उद्विग्न, सदासुहागिन, व चिरविधुरा नारी के—छलकते-ललकते उत्साह का, इससे अधिक विशदस्वरूप ही और क्या हो सकता है:—

"म्हारो ओलगिया घर आज्यो जी।
　　　　सुख दुख खोलि कहूँ अन्तर की, वेगा वल दिखाज्योजी॥
साधू सजन मिलै, मिर साहै, तनमन करूँ बधाई जी।
　　　　जन मीरा लै मिलौ कृपा करि, जनमि जनमि मितराई जी॥

उनकी यह तीव्र विरहानुभूति कितनी सच्ची और स्वाभाविक थी, इसका आंशिक अनुभव तो इस बात से ही किया जा सकता है कि वर्षाकालीन-नन्हीं नन्हीं फुहारें 'चातक की चकित पुकारें, कोयल की कूक शीतल पवन के झोंके, छिटकी हुई शुभ्र

चन्द्र ज्योत्सना, फागुन की रंगरेलियाँ, झिलमिलाते सितारे—कोई भी तो उनकी लेखनी से नहीं छूट सका है। यद्यपि इस प्रकार की अभिव्यक्ति में, प्रचलित परम्परा, अथवा नामोल्लेख-करने वाली कवि-परिपाटी की भी थोड़ी बहुत छाया हो सकती है। किन्तु मीरा की अपनी व्यंजना-शैली के समक्ष ये सारे छिद्र अपने आप ढक ही नहीं जाते, प्रत्युत सत्यता तो यह है, कि भावुक-पाठक का ध्यान भी उस ओर नहीं जा पाता।

विरह की व्याख्या करते हुए भी सुमित्रानन्दन पंत ने, एक स्थल पर लिखा है, "विरह आह कराहते इस शब्द को आँसुओं से निठुर विधि ने है लिखा।" इस निष्ठुर विरह की विदग्धता का साक्षात्कार करना है तो मीरा को पहचानने की कोशिश कीजिए। लगता है विरह के इस लंबे अर्से की, एक एक दिन की ही नहीं, प्रत्युत एक एक पल की कहानी मीरा को जुबानी याद है। आप चाहे तो उसका पूरा व्योरा उनसे ले सकते हैं। किन्तु इससे पहले आप इसे भी अच्छी प्रकार सोच समझ लें, कि "घायल की गति घायल जानै और न जानै कोय"। वेदना के इस विस्तृत भाव-जगत में, मीरा कबीर के निकट आ जाती है। वाणी के इस तपः पूत क्रांतिदर्शी साधक ने, जिसे हम सामान्यतः कुछ झिझकती, भय खाती, दृष्टि से देखते हैं, जो हमें सदैव दूसरों को, डांटता-फटकारता हुआ, स्वयं परम-स्वतन्त्र, बेफिक्र, मस्तमौला अवधूत सा जान पड़ता है उसके अन्दर भी पीड़ा और मधुस्मृति के कितने वेगगामी स्रोत उमड़ रहे हैं, यह हम नहीं जानते। बाहर को ही सब कुछ समझकर चलने वाली-स्थूल भौतिक साधना को ही—सर्वस्व मान लेने वाली धारणा से ऐसी भूलें होना स्वाभाविक ही है। किन्तु नहीं, स्थूलावरण से तनिक ऊपर उठकर देखिए,—तो आपको कबीर, कोरे अक्खड़ व फक्कड़ ही नहीं दिखाई देंगे। उनमें आपको मीरा व महादेवी की करुणा से भी अधिक कोमल करुणा के दर्शन होंगे। उनकी आँखों से बहती हुई विदग्ध-अश्रुधारा को एक बार देखकर, आप अपना सब कुछ भूल जायँगे। विरह की जिस अनंत व्यापिनी वेदना से व्यथित होकर कबीर ने कहा था—

"आँखड़ियाँ झाँई पड़ी पंथ निहार निहार—
जीभड़ियाँ छाले पड़े नाम पुकार पुकार।

वियोग की ठीक उसी वेदना से, प्रभावित होकर मीरा कहती है—

राम मिलणरो घणो उमाओ नित उठ जोऊं वाटड़ियाँ।
दरस बिना मोहि कछु न सोहावै, जक न पड़त है आँखड़ियाँ॥
तलफत तलफत बहुदिन बीता, पड़ी विरह की फासड़ियाँ,
नैन दुखी दरसन को तरसैं, नाभि न बैठे सांसड़ियाँ।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे, पूरो मन की आसड़िया

कबीर की ही भाँति, मीरा के पदों में भी शून्य, निर्गुण 'अनहद' आदि

हठयोग के प्रतीक शब्दों का व्यवहार भी यत्रतत्र दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं, कि मीरा का भी उपास्य वही था, जो कबीर का था। सच तो यह है कि हठयोग की, यह विशृङ्खल-विवेचना मीरा के पदों में उनके पूर्ववर्ती नाथ-पंथी साधुओं के प्रभाव के फलस्वरूप ही-इधर उधर बिखरी हुई देखी जा सकती है। किन्तु इन स्थलों पर मीरा की-प्राण चेतना रमती हुई नहीं पाई जाती। अस्तु मीरा व कबीर दोनों को ही हम, जिस क्षेत्र में, एक साथ विचरण करते हुए देख सकते हैं—वह है प्रेमयोग, न कि हठयोग।

मीरा की भाषा के संबन्ध में, तो श्री महावीरसिंह जी गहलौत के शब्दों में, इतना ही पर्याप्त होगा—"कि वह पिंगल है, और जिसका आशय, ब्रजभाषा के उस रूप से है, जो मध्यकाल में राजस्थान-काव्य-भाषा का रहा है। भाषा के इस शुष्क गद्यात्मक पक्ष के संबन्ध में, श्री गहलौत जी के इन शब्दों के अतिरिक्त, भी मुझे इतना और कह देना है, कि "का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच"। उनकी भाषा में और चाहे कुछ न हो, किन्तु प्रेम-व्यंजना की कमी नहीं। प्रेम ही उनकी भाषा है, अनुराग ही उनका भाव है। और उनका समस्त काव्य 'प्रेम के देवता' की ही सजल-अर्चना है। उनकी वेदना कबीर की है, आत्मनिवेदन 'तुलसी' का। सर्वोपरि, उनकी अनुभूति व अभिव्यक्ति उनकी अपनी है। राजस्थान, गुजरात, एवम् महाराष्ट्र के लोग--उन्हें अपनी अपनी ओर खींचते हैं, किन्तु इससे भी अधिक, व्यापक रूप तो यह है, कि मीरा-समूचे देश की संपत्ति हैं, और उनके विरह-गीत-तो भारत की ही नहीं—विश्वसाहित्य की अमूल्य निधि हैं।

गोस्वामी जी का चरित्र-चित्रण

कोलाहल से भरे हुए इस विशाल जनसंकुल संसार में, यदि आप सदैव आँख मूँदकर चलते रहे हैं, तब तो कोई बात नहीं। किन्तु यदि किंचित् सतर्कता व सावधानी से भी आपने काम लिया है, तो आपको अनुभव हुआ होगा, कि सामान्यतः संसार में दो प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं। इन प्राणियों का पहला वर्ग तो वह है, जो अपने काम से काम रखता है, दूसरे के हर्ष विषाद दुःख सुख आदि से उसका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। दूसरे वर्ग के लोग वे हैं, जो राह चलते हुए व्यक्ति के दुःख में भी, दो चार अपने आँसू मिला देने में, अपना अहोभाग्य समझते हैं। पहले वर्ग के लोगों को, यदि यथार्थवादी और दूसरे वर्ग के, प्राणियों को, आदर्शवादी मान लिया जाये, तो, कोई अत्युक्ति न होगी। पहले वर्ग के लोगों की, जब आवश्यकता से अधिक अभिवृद्धि हो जाती है, और उनकी विचारधारा में, (यथार्थवाद) जब आवश्यकता से अधिक कृपणता, संकीर्णता एवम् स्वार्थपरता आ जाती है, तभी किसी मानवेतर शक्ति को, "संभवामि युगे युगे" की प्रतिज्ञा पालन करनी पड़ती है। दूसरे वर्ग के लोगों की अभिवृद्धि होने, और उनकी विचारधारा के अधिकाधिक विकास पाने में, ऐसी कोई बात नहीं होती। श्रेय में, कितनी ही वृद्धि क्यों न होती जाये, वह सदैव श्रेयस्कर ही सिद्ध होता है। किन्तु प्रेय के थोड़े से प्रसार में ही, अशांति, व विप्लव का भय सम्मिलित हो जाता है।

संसार में, ऐसे लोगों का अभाव नहीं, जो पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए-यथार्थवादी होते हैं। देवत्व तो बहुत दूर, मनुष्यत्व का भी, जिनमें लेश नहीं होता है। दूसरी ओर आप देखेंगे, कि पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए आदर्शवादियों की संख्या संसार में, बहुत कम होती है। बस एक या दो—राम-कृष्ण, बुद्ध, ईशा, गांधी। गोस्वामी जी के सिद्धान्तानुसार इन दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों में, पहले को रावण और दूसरे को राम कहा जा सकता है। इन दोनों में संघर्ष का होना भी अनिवार्य है। किन्तु अन्त मे, राम का यानी आदर्शवाद का, रावण यानी यथार्थवाद पर विजय पाना भी आवश्यक है। निर्गुणात्मक होकर कहा जाये, तो यह भी कहा जा सकता है, कि यह देवासुर संग्राम, एक ही व्यक्ति के जीवन में भी ज्यों का त्यों चलता रहता है। किन्तु उसकी व्याख्या यहाँ, हम उस रूप में, प्रस्तुत न करके संसार, के, खुले क्षेत्र में, अपने उपास्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा करने वाले, गोस्वामी जी के, लोकरंजक सिद्धान्तों का, अनुसरण करना ही, उचित समझेंगे।

सामान्यतः तो आपने, अब तक यथार्थवाद व आदर्शवाद का, विभाजन कर

ही लिया। विश्व के व्यक्तियों के इस सामान्य विभाजन में, आपने देखा, कि यदि एक ओर पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ, आदर्शवादी है, तो दूसरी ओर अपने स्वार्थ की लोहित लपटों में, समस्त विश्व को लपेट लेने वाला यथार्थवादी। यह तो दोनों चरम-सीमा पर पहुँचे हुए व्यक्ति हैं। किन्तु अधिकाधिक संख्या में पाये जाने वाले, इन दोनों प्रकार के प्राणियों के अतिरिक्त, यहाँ वे व्यक्ति भी हैं, जो इन दोनों स्थितियों के बीच, विचर रहे हैं। आशय यह कि आदर्श व यथार्थ के न्यूनाधिक मात्रा भेद के कारण, विश्व के इन बहुसंख्य चरित्रों किंवा पात्रों मे भी, एक बड़ी मात्रा में वैविध्य अथवा वैचित्र्य का समावेश हो जाता है। आपने देखा होगा कि संसार मे कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो अपने पारिवारिक आदर्श को ही सुरक्षित नहीं रख सकते। जिन पर संगति का प्रभाव, अच्छा या बुरा—अवश्य पड़ता है। साथ ही कुछ ऐसे भी है, जो अपने परिवार को ही नहीं, समस्त संसार को ही अपना परिवार समझकर, उसकी सेवा में सर्वस्वार्पण कर देते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो औसत दर्जे के साधु हैं। कुछ ऐसे हैं जो संस्कारवश-अपने स्वरूप को देर से पहिचान पाते हैं और इसीलिए कभी कभी समस्त जीवन या जीवन के एक बड़े भाग को, अवांछनीय ढंग से बिताकर भी, किसी दिन, किसी क्षण, महूर्त-मात्र में ही अपना समुचित सुधार कर लेते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो जन्म जात रावण हैं, कुछ ऐसे हैं, जो जन्म जात राम है। कुछ ऐसे हैं, जो झूठे, ऐश्वर्य व भोग के संचय में ही, सब कुछ भूले बैठे हैं। तो कुछ ऐसे भी हैं, जो सब कुछ होते हुए भी, आदर्श व श्रेय की प्रतिष्ठा के लिए, स्त्री, धन, ऐश्वर्य, सभी ओर से आँखें मूँद लेते हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो अपने विचारों के लिए सदैव अपने वातावरण को ही दोषी ठहराते रहते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो हेय से हेय वातावरण में रहकर भी, अपने सामान्य आदर्शों को नहीं भूलते। सच तो यह है, कि इस व्यक्ति-वैचित्र्यका सर्वाङ्गपूर्ण विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता। यहाँ, पर मेरा प्रयोजन इतना ही है, कि पात्र पारखी गोस्वामी जी की लेखनी ने, केवल पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए, आदर्श या यथार्थवादी पात्रों को ही नहीं, प्रत्युत इन दोनों के मध्य में आने वाले, प्रायः उपरोक्त प्रकार के सभी पात्रों को भी—सफलता पूर्वक अपना लक्ष्य बनाया है।

कभी कभी, उनके, सम्बन्ध में, ऐसा भी आक्षेप किया जाता है, कि आदर्श पात्रों का चरित्र विश्लेषण करने में वे, जितना सफल सिद्ध हुए हैं, यथार्थ चरित्रों के चित्रण में उतना नहीं। किन्तु यथार्थ यह नहीं है। आदर्शवाद के जन्मजात उपासक होने के कारण, उनकी भावतूलिका, ऐसे पात्रों के विश्लेषण में, अधिक रमती और मुग्ध होती तो अवश्य देखी जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यथार्थ चरित्रों की शील-अभिव्यंजना में, उनकी लेखनी कहीं भी शिथिल हो गई हो मानस की आरम्भिक भूमिका में ही, प्रचलक

यथार्थवादियों की वंदना, उन्होंने जिस, ओजपूर्ण प्रभावोत्पादक शैली में की है, उसीसे उनके तत्संबंधी अध्ययन की गहराई का पता लगाया जा सकता है। हाँ, यह बात और है, कि ऐसे पात्रों की संख्या ही उनके प्रबंध में नगण्य हो।

आदर्श और यथार्थ की चरमकोटि में, आनेवाले, उनके इन पात्रों पर, एक सरसरी, दृष्टि डालने पर हमें ज्ञात होगा, कि, यदि एक ओर राम, भरत, निषादराज, हनुमान, जटायू, सीता एवम् लक्ष्मण आदि हैं—तो दूसरी ओर यथार्थवादिता के सच्चे अर्थों में, अकेले रावण को ही रखा जा सकता है। अधिकाधिक इस पक्ष में, मंथरा व शूर्पणखा को और सम्मिलित किया जा सकता है। क्योंकि रावण दल के अन्य सेनापतियों मे, 'मेघनाद' भी, अन्त में सत् अथवा आदर्शस्वरूप को, पहचान लेने में समर्थ होता है। और जीवन के अन्तिम क्षणों में, निष्कपट भाव से, आदर्श राम का स्मरण करता हुआ, अपने प्राणों, का परित्याग करता है। कपटमृग का अभिनय करने वाला, मारीच भी पूरी तरह से, चरम-यथार्थवादी–कोटि में नहीं आ पाता। क्योंकि कपट का यह अभिनय, उसे मजबूरी में करना पड़ा था। वह जानता था कि रावण के विरोध का अर्थ है, उसी के हाथों उसकी मृत्यु। और जब मृत्यु दोनों ही परिस्थितियों में अनिवार्य है, उभयनिष्ट है, तो राम के हाथों ही, प्राण देकर परम धाम क्यों न लिया जाय। अस्तु चरम यथार्थवादी कोटि में, मारीच को भी नहीं गिना जा सकता। कुंभकर्ण तो निश्चय ही उन पात्रों में है, जो संस्कारवश, जीवन के एक बहुत बड़े भाग को अवांछनीय शैली में, व्यतीत कर चुकने पर भी, एक दिन-एक क्षण, महूर्त-मात्र में ही, अपना समुचित सुधार कर लेते हैं। आज भी, ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिनका भौतिक जीवन, रहन सहन, आहार विहार—सब कुछ बहुत गिरा हुआ होता है, फिर भी जिनके अन्तःकरण में दिव्य आध्यात्मिक ज्योति, का, कोई न कोई ऐसा कण अवशेष रह जाता है, जो अवसर आने पर, अनंत प्रकाश में तिरोहित हो जाता है।

लंका दुर्ग की सुरक्षा के लिए, उसके सीमान्त पर, नियुक्त लंकिनी नाम की, निश्चरी का भी चरित्र प्रकारान्तर से बहुत कुछ ऐसा ही है। संस्कारों के, अनिवार्य बंधन में जकड़ी हुई वह भी अपने सत्स्वरूप को, समय आने पर, पलमात्र में पहिचान लेती है। अतएव कुछ थोड़े बहुत हेर फेर के साथ, खरदूषण, एवम् लंकिनी आदि सभी पात्रों को संस्कारवश कुछ समय तक, अपने स्वरूप को भूल जाने वाले लोगों की श्रेणी में रखा जा सकता है। त्रिजटा का चरित्र तो निश्चय ही, उन लोगों का जैसा है, जो एक दृष्टि से बहुत ही, उच्चकोटि के साधक भी कहे जा सकते हैं। जल में रहते हुये भी, जो जल से नितान्त अलग, यानी पद्मपत्र-इवांभसः अपना जीवन व्यतीत करते हैं। और जिनकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है, कि वे दुखी मानवता के साथ भी अपनी सच्ची सहानुभूति प्रकट करते हैं। अपने बुरे से बुरे वातावरण से,

प्रभावित होना तो वे जानते ही नहीं। उनकी अन्तः साधना ही, इतनी शक्तिशाली होती है, कि बाहर का कोलाहल, उन्हें जैसे छू ही नहीं पाता। किन्तु इस सबका अर्थ यह भी नहीं है, कि बाहरी दुनियाँ के सुख दुख से, उनका कोई प्रयोजन ही नहीं होता। हाँ, यह हो, सकता है, कि उसके सुख से उनका कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु उसके दुःख से द्रवीभूत होना, वे अवश्य जानते हैं। और तभी तो जीवन विसर्जन के लिए, प्रस्तुत सीता को, वह हर प्रकार से ढाढ़स बांधने का प्रयास करती है। और रावण द्वारा, नियुक्त अन्य पिशाचनियों को भी, उनके कर्त्तव्य से परिचित कराती हुई उन्हें सावधान रहने का आदेश देती है।

आदर्श और यथार्थ के इस दृष्टिकोण, को सामने रखकर, यदि देखा जाय, तो रावण दल के लोगों मे चरमयथार्थ की कोटि में, आने वालों में, केवल रावण का व सूर्पनखा का ही नाम लिया जा सकता है। रावण भी अन्त तक अपने स्वरूप को, पहिचानने में, असमर्थ रहता है। और मृत्यु पर्यन्त ही नहीं, प्रत्युत मृत्यु की गोद में भी, जाकर, वह अपने वैरी राम को अन्तिम ललकार देने में नहीं चूकता। अत्यंत क्रोध में गर्जना करता हुआ, वह उस समय भी, कहता है-"कहाँ राम रन हतौं पचारी।" चरम यथार्थ की कोटि में आने वाला, रावण पक्ष का दूसरा पात्र है सूर्पनखा। जिसे आप, किसी भी, भारतीय संस्कृति में पली हुई नारी के शील, चरित्र एवम् आदर्श के, नितान्त प्रतिकूल खड़ा कर सकते हैं। वस्तुतः तो तुलसी की, तूलिका से निकला हुआ, यही एक ऐसा पात्र है जिसका अवलोकन करते ही, हमें पूर्व और पश्चिम की संस्कृति का विशाल अन्तर दिखाई दे जाता है। किन्तु खेद का विषय है, कि आदर्श और संस्कृति की जिस पतनावस्था के कारण, मर्यादा पुरुषोत्तम राम को, एक स्त्री पर हाथ उठाने के लिये वाध्य होना पड़ा—वही आदर्श और संस्कृति आज अपने देश की जलवायु में भी, पनपने लगा है। सूर्पनखा को चरम यथार्थवादियों की कोटि में, ही रखने से, मेरा आशय इतना ही है, कि न तो उसे परिस्थितियों से वाध्य होकर ही, ऐसा करना पड़ा था, और न उसे किसी प्रकार का ऊपरी भय ही था। यह तो उसकी निजी वासना-जन्य भूख थी, जिसके वशीभूत होकर, परिणीता होते हुए भी, एक नारी, नारीसुलभ लज्जा को, एकबारगी, ठुकरा कर—गणिकाओं से भी, गिरा हुआ पतित, निर्लज्ज अभिनय करने में नहीं हिचकती। जो अपनी माँग को पूरा, न होता देख कर, अन्त में, अपने प्रतिशोध की अग्नि में, स्वतः जलकर, भस्म होने के लिये वाध्य होती है। किन्तु फिर भी जो, आद्यंत अपने, परम निर्मल व पवित्र स्वरूप को पहिचानने में असमर्थ रहती है।

तुलसी के चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में, जैसा कि अभी कह चुका हूँ—यह भ्रमात्मक आरोप है, कि उनकी लेखनी को आदर्श पात्रों के चित्रण में अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुस्थित तो यह है कि उनका आदर्श, उनकी

भावुकता और उनका कवित्व सभी कुछ संयत रहता है। वे अपने प्रबंधकार स्वरूप को कहीं नहीं भूलते। उनकी भावुकता और उनकी प्रबंध पटुता साथ साथ चलती है। वह उसका साथ वहीं छोड़ती है, जहाँ उसे इसकी आवश्यकता होती है। अतएव ऐसे स्थलों पर भी, एक अधिक ऊँचे आदर्श के लिए साधारण आदर्श को छोड़ देने के, सत्-सिद्धांत का ही पालन करते हुए वे देखे जाते हैं। न कि प्रबंधत्व पर अपनी भावुकता का मन चाहा बोझ लादते। शीलनिरूपण के लिए, एक प्रबंधकार को, जिन दो बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है उनमें से सबसे पहली बात तो यह है, कि उसे जीवन की विविध परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न हुई मानव-मनोदशाओं का यथातथ्य चित्रण करना होता है। जीवन और जगत के क्रांतिदर्शी, अध्ययन के प्रभाव से, वह अपने पात्रों मे, जीवनशक्ति का संचार करता चलता है। विभिन्न पात्रों के नाम, व्यापारों, परिवर्तनों व मनोदशाओं के पीछे प्रबंधकार का ही हाथ होता है। अन्यथा कोई पात्र अपने में तो एक निर्जीव मृत्तिका पिण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। प्रबंधकार का अदृश हाँथ ही, उन्हें दारुजोषित की भाँति, इधर उधर घुमाया करता है। एक ही समय में वह कई पात्रों में, कई प्रकार की मनोदशाओं का दिग्दर्शन कराता है। सुख के प्रदर्शन के लिए उसे स्वयं परोक्ष रूप में, सुखी व्यक्ति का अभिनय करना होता है और दुःख के प्रदर्शन के लिए फिर उसे दुखी बन जाना पड़ता है। दूसरी बात जिसका उसे विशेष ध्यान रखना पड़ता है यह है, कि इन विभिन्न मनोदशाओं व व्यापारों के चित्रण में, प्रबन्ध सम्बन्धी कोई दोष—कहानी का विश्रंखल होना, ऐतिहासिक आधार में शैथिल्य आ जाना, पात्रों में अनावश्यक वृद्धि हो जाना—आदि न आने पाये। जब तक कि उसके लिए, किसी उच्चतम आदर्श की प्रतिष्ठा न करनी हो। इसके लिए मानस का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। यह प्रसंग एक वनगमन का है। वनवासी वेष धारण कर राम बन जाने को प्रस्तुत हैं। उधर सचिव सुमन्त को यह आज्ञा मिली है कि वे राम को वन पथ तक पहुँचा आयें। परिस्थितियों की गंभीरता को देखते हुए यह कोई साधारण कार्य नहीं है। जिन राम के वनवासी होने पर सारा अवध अनाथ हो चुका है, चारों ओर मरघट की भयावह शून्यता फैली हुई है, यहाँ तक कि पशु पक्षियों ने भी, खाना पीना छोड़ दिया है। जिन्हें बन पथ पर पैदल चलते देखकर, साधारण ग्राम युवतियाँ, शीश धुन धुन कर पश्चाताप करने लगती हैं, और इस पर भी जब उनकी वेदना, कुछ कम नहीं होती तो वे ब्रह्मा के कठोर विधान की भर्त्सना करते हुए कहती हैं, "कि उसकी सृष्टि-रचना का तो सारा परिश्रम ही अकारथ गया। इन्हें वनवास देकर, तो उसने व्यर्थ ही अनन्त-सुख-समृद्धि की व्यवस्था की है। उसके बनाये हुए धवल-धाम, सुमन-सेज, मणिमय-मार्ग सब कुछ व्यर्थ हैं, दो कौड़ी के। जिन्हें बन पथ तक भेजने की बात इन्हीं सुमन्त से कहते कहते स्वयं राजा दशरथ अभी २ मूर्छित होकर, पछाड़ खाकर,

पृथ्वी पर गिर चुके है, उन्ही सुमत को यह आज्ञा मिली है । किंतु राजाज्ञा का पालन तो करना ही होगा । उन्होंने किया भी—और पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ किया । किंतु उस समय की, उनकी मानसिक उलझन, अन्तर्द्वन्द्व; व्यथा और करुणा का, जो चित्र गोस्वामी जी की लेखनी से अङ्कित हुआ, वह उनकी चरित्र चित्रण सम्बन्धी, प्रतिभा का भी उज्ज्वलतम प्रमाण सिद्ध हुआ ।

शृंगवेरपुर में वटक्षीर द्वारा, राम लक्ष्मण को, अपनी जटायें सँवारते हुए देखकर, उनकी (सुमंत) आखें तो पहले ही डबडबा आई थीं । फिर दशरथ का संदेश कहते कहते, तो उनका कंठ भी रुँध गया । और अन्त में तो राम के चरणों पर गिरकर वे बच्चों की तरह से फूट पड़े ।

"करि विनती पाँयन परेउ दीन बाल जिमि रोय ।" वेदना के उत्तरोत्तर विकास और फिर उसके Climax को, कवि ने, कितनी कुशलता से प्रदर्शित किया है । इस बाल अथवा शिशु-क्रंदन में दोनों ही बातें आ जाती हैं । सुमंत वयस्क थे । फिर भी वे, बच्चे की तरह रो पड़े । यह उनकी, किंकर्तव्य विमूढ़ दशा का परिचायक तो है ही । साथ ही बच्चे की तरह फूट पड़ने का आशय यह भी है कि वे, वेतहाशा, एक साथ ही—फूट फूट कर, चीख चीख कर रो पड़े । विकलता की विवशता से उनकी करुणा अन्तर्मुखी न रह सकी । और वे सारा धैर्य छोड़कर एकबारगी ही रो पड़े । राम को अपनी प्रतिज्ञा पर ज्यों का त्यों अटल देख, उन्होंने सीता को ही अपने साथ लौटाने की प्रार्थना की । किन्तु विधि--वाम की कठिन करनी में,—विधान के क्रूर नियमों मे परिवर्तन ला देने का सामर्थ्य तो उनमें था नहीं । अतएव सीता को भी वे लौटा सकने में असमर्थ रहे, अन्यथा कुछ तो सहारा उन्हें मिल ही जाता । अन्त में विवश होकर, छाती पर पत्थर रखकर, उन्हें अकेला ही वापस लौटना पड़ा । कदाचित यह सदेश लेकर, वे वापस न भी लौटते, किन्तु अवध से यहाँ (वन पथ) तक उन्नति के लिए, उन्हें दशरथ ने मजबूर कर दिया था, और यहां से अवध लौट जाने के लिए उन्हें राम ने बाध्य कर दिया । 'बरबस राम सुमंत पठाये, सुरसरि तीर आपु तब आये ।' इस 'बरबस' ने ही तो उन्हें, 'परवस' कर दिया, और फिर विवश होकर वे अवध के लिए चल पड़े । लौटते हुए सुमंत की मनोदशा का, पूर्ण मनोवैज्ञानिक, सजीव एवं यथार्थ चित्रण गोस्वामी जी की शील-अभिव्यंजन कला का वह सफल प्रमाण है, जिसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए भी मन नहीं भरता । उनके शरीर की हालत तो यह है:—

> लोचन सजल डीठि भई थोरी, सुनइ न श्रवन विकल मति भोरी ।
> सूखहि अधर लागि मुँह लाटी, जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी ।।
> बिवरन भयो न जाई निहारी, मारेसि मनहुँ पिता महतारी ।

और मन में क्या क्या सोच रहे हैं:—

आइ पूछिहहिं मोहि जब, विकल नगर नर नारि।
उतर देब मैं सबहि तब, हृदय बज्र बैठारि॥
राम, जननि जब पूछब-धाई,
पूँछहि जबहिं लखन महतारी।
पूँछत उतर देब मैं तेही,
पूँछहि जबहिं राव दुख दीना।
देहउँ उतर कौन मुँहलाई,
मैं आपन किमि कहौं कलेसू।

वेदना जब अत्यधिक घनीभूत हो उठती है, तब वेदनाग्रस्त व्यक्ति अपने ऊपर ही, व्यंग करने लगता है। 'आयउँ कुशल कुँवर पहुँचाई' में इसी आत्म-ग्लानिमय, तीखे व्यंग के मनोवैज्ञानिक सत्य की झलक देखी जा सकती है। धर्म संकट की अनिवार्य विषम परिस्थितियों मे पड़े, किसी भी व्यक्ति की, आन्तरिक मनोदशा का इससे अधिक विशद रूप ही और क्या हो सकता है। सचिव सुमन्त की मनोदशा का यह एक चित्र ही गोस्वामी जी की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कुशलता का स्वस्थ एवं जागरुक प्रमाण है! हाँ इस प्रसंग में कुछ लोगों की यह शिकायत जरूर है कि सचिव सुमंत से, सती सीता ने अवध लौटने के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता का जो कारण बताया था, अवध पहुँच कर सुमंत ने उसे ज्यों का त्यों न बताकर अपनी ओर से उसमें बहुत कुछ काट छाँट कर दी। इससे सुमन्त के संदेश-वाहक स्वरूप में तो कुछ शैथिल्य आ ही जाता है, साथ ही यह एक प्रबन्ध सम्बन्धी दोष भी है, किन्तु इस सम्बन्ध में निवेदन है कि सीता जी की इस अवसर पर दी गई दलील कोई नयी दलील नहीं है। यह वही है जिसे उन्होंने अभी कुछ ही समय पूर्व राम के समझाने बुझाने पर उन्हीं के समक्ष एक बार पहले भी अवध-सौध में प्रस्तुत किया था। अस्तु इस पुनरुक्ति के पिष्ट-पेषण में कोई विशेषता नहीं थी। सुमन्त इसे अच्छी प्रकार जानते थे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अत्यधिक दुःख में डूबे हुए व्यक्ति को यदि आप शुष्क ज्ञान, कर्म, धर्म, आदर्श आदि का आवश्यकता से अधिक उपदेश देने लगे अथवा उससे अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा, व धर्म परायणता मात्र की दुहाई देने लगे तो यह उसके लिए अधिक सुखद नही सिद्ध होता। चेतनाहीन व्यक्ति को संज्ञा का उपदेश मात्र ही संज्ञा में नहीं ला सकता। पहले तो उसके लिए अन्य उपचारों की आवश्यकता होती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। दशरथ जी की स्थिति भी उस समय अत्यधिक शोचनीय थी। अतएव सीता जी का सुमन्त से हुआ समस्त वार्तालाप उस समय उनकी स्थिति के अनुकूल न पड़ता। इस प्रकार इस प्रसंग में प्रबन्ध सम्बन्धी कोई दोष भी नही दिखाई देता। प्रत्युत ऐसा न कराकर

प्रतिभाशाली कवि ने एक बड़े मनोवैज्ञानिक सत्य की ही रक्षा की है। मानव-मनोदशा का तो उन्होंने इतना सूक्ष्मावलोकन किया है कि परिस्थिति विशेष में पड़े किसी भी पात्र की मनोदशा का ही नहीं, प्रत्युत उसके शरीरगत परिवर्तनों की भी उन्होंने सफल अभिव्यंजना की है।

चरित्र-चित्रण सम्बन्धी एक दूसरी शंका जो गोस्वामी जी के सम्बन्ध में कभी उठ खड़ी होती है, वह यह कि गौण पात्रों के चरित्रांकन में अपेक्षाकृत उन्होंने कम सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः तो यह शंका भी उनके सम्बन्ध में किये जाने वाले उसी आक्षेप की भाँति है, जिसमें उन्हे आदर्श पात्रों का अपेक्षाकृत अधिक सफल चित्रण करने वाला बताया जाता है। वैसे तो हर कुशल प्रबन्धकार को गौण या प्रमुख समस्त पात्रों का चरित्रांकन करते हुए सदैव इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि उनके अन्दर जिन विशेप गुणों की प्रतिष्ठा अथवा दोषों का आरोप उसे करना है वे सब उसी कथानक विशेष में अपना यथेष्ट विकास पा लें। गौण पात्रों का रोल भी स्वभावतः प्रमुख पात्रों की अपेक्षा कुछ कम होता है अस्तु यह तो पहले ही स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रमुख पात्रों की भाँति अपना स्थान व अवकाश नहीं ले सकते। जिस सीमित क्षेत्र मे उनकी अभिनयात्मक सत्ता का समावेश होता है, उतने ही ससीम क्षेत्र में उनका शीलोद्‌घाटन भी। अस्तु यदि कोई यह कहे कि उतना ही स्थान या अवकाश उन्हे भी क्यों नहीं मिल सका, जितना कि प्रमुख पात्रों को दिया गया तो यह नितान्त भ्रमात्मक ही समझा जायेगा। और तब इस अर्थ में कोई भी प्रबन्धकार, प्रबंध सम्बन्धी किसी भी दोप का भागी नहीं समझा जा सकता। यथार्थ में तो दोष तब होता है, जब उस सीमित क्षेत्र में कोई गौण पात्र प्रबन्धकार की लेखनी द्वारा, यथेष्ट विकास नहीं प्राप्त करता। किन्तु गोस्वामी जी के गौण पात्र भी इस दोष से सर्वथा मुक्त से ही हैं। उसके लिए आपके समक्ष, प्रबन्धकार गोस्वामी जी के दो तीन गौण पात्रों पर भी कुछ चर्चा कर लेना अच्छा होगा।

विभीषण:—सबसे पहले आप विभीषण को ही ले लीजिये, जैसा कि व्यक्ति वैचित्र्य के प्रसङ्ग में, आपसे पहले ही कह आया हूँ, कि संसार में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो संगति या वातावरण के प्रभाव से, सदैव निर्लिप्त रहते हैं। बुरे से बुरे वातावरण में, भी रह कर ये उससे प्रभावित नहीं होते। सच पूछा जाये तो 'चन्दन विष व्यापत-नहीं' की उक्ति इनके सम्बन्ध में पूरी तरह से ही चरितार्थ होती है। विभीषण भी उसी कोटि का एक पात्र है। जिसने स्वतः अपने मुख से भी स्वीकार किया है कि "सुनहु पवन सुत रहनि हमारी—जिमि दसनन बिच जीभ विचारी।" 'विचारी जीभ' का अकेले बत्तीस दाँतों के बीच, रहने का यह आशय तो है ही कि उसे अपने आस पास के बर्बर-वातावरण की सदैव चिन्ता बनी रहती है, साथ ही उसका यह भी आशय है,

कि चिन्तित होते हुये भी चिंत्य से वह जा नहीं मिलती, संगति-दोष उसमें नहीं लगने पाता। अपनी इसी निर्लिप्तता के कारण वह त्रिजटा (पात्री) के अधिक निकट जा पड़ता है।

स्वतः श्रीराम के मुख से, गोस्वामी जी ने, उसमे जिन गुणों का आरोप कराया है, वे कुछ इस प्रकार हैं। "सगुन उपासक परहित निरत, नीति दृढ नेम—ते नर-प्राण समान मोहिं, जिनके द्विज पद प्रेम।" अब देखना यह है, कि कुशल प्रबन्धकार ने, इन चारो गुणों के सम्यक् प्रदर्शन के लिए इस पात्र को समुचित अवसर प्रदान किया या नहीं। तो विभीषण का सबसे पहला गुण है सगुणोपासना। लंका दुर्ग के अन्तः प्रदेश मे प्रवेश करते हुए हनुमान को, जब यह शका हुई कि इस खलमण्डली के बीच भी क्या किसी सज्जन का रहना सम्भव हो सकता है, तभी विभीषण को उन्होंने राम नाम का सुमिरन करते हुये सुना। हाँ यहाँ यह शंका तो अवश्य उठ खड़ी होती है, कि विभीषण का यह नाम जप, 'सुमिरन' संतो की वैखरी वाणी से चल रहा था, अथवा मन ही मन। जो भी हो राम नाम के 'सुमिरन' मात्र से इतना तो, निश्चय हो ही जाता है, कि विभीषण, उपासक थे, भक्त थे। सगुण प्रेमी थे या निर्गुण प्रेमी—यह रहस्य अब भी, आवरणमय बना रहता है। कुछ बातचीत आगे बढ़ने पर विभीषण के द्वारा—केवल एक ही पंक्ति ऐसी कहलाई जाती है, जिससे उसकी सगुणरूप—रामोपासना की थोड़ी बहुत झलक दिखाई दे जाती है। अपनी दीनदशा का परिचय देते हुये—वह कहता है, "तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा—करिहैं कृपा-भानु कुल नाथा।" भानुकुल-नाथा शब्द ही यहाँ इस बात का द्योतक है, कि विभीषण और किसी का नहीं—सगुण स्वरूप रघुकुल तिलक राम का उपासक है। किन्तु सगुणोपासना की तो यह एक झलक मात्र है। जिससे एक सच्चे सगुणोपासक का पूरा परिचय, फिर भी नहीं प्राप्त होता। अतएव इस रहस्यात्रिशिष्ट का सम्यक् उद्घाटन यहाँ न होकर उस स्थल पर होता है—जब सब प्रकार से रावण को समझा बुझाकर, उसे सही रास्ते पर ला सकने मे असमर्थ होकर, विभीषण राम दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा लेकर लंका से चल देता है और रास्ते में सोचता जाता है कि आज वह परम-पावन क्षण, वह पुण्य-बेला आई है, जब उसे राम के उन चरणों के दर्शन होंगे:—

> "जे पद परसि तरी ऋषि नारी—दण्डक कानन पावन कारी
> जे पद जनक सुता उर लाए—कपट कुरग संग धर धाये
> हर उर सर सरोज पद जेई—अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई"

और जब उसकी सगुणोपासक भावना को उन चरणों के सम्बन्ध में इतनी व्याख्या कर चुकने के बाद भी संतोष नहीं होता तो वह अपनी जातिगत भावुकता

(सगुणोपासना की स्वाभाविकता) के चरम चरण को एकबारगी छू लेने का प्रयास करता हुआ कहता है, अरे आज मैं उन चरणों के दर्शन करूँगा—

"जिन्ह पायन के पादुकन्ह भरत रहे मन लाय।"

सगुणोपासना की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अबाध-भावुकता व सीमाहीन श्रद्धा। सहृदय पाठक, जिन्हें एक बार भी मानस के चित्रकूट में भरत व राम के मिलन की झाँकी देखने का सुयोग प्राप्त हुआ है, अच्छी प्रकार अनुभव कर सकते हैं, कि कवि के द्वारा—राम के चरणों के साथ, दुखी भक्त का सम्बन्ध जोड़ दिये जाने पर, चरणों की महत्ता कितनी अधिक बढ़ गई है। एक सच्चे सगुणोपासक भक्त की मनोभावना का इससे अधिक सुन्दर स्वरूप भी और क्या हो सकता था। विभीषण का दूसरा अपेक्षित गुण है परोपकार। आप यह तो जानते ही हैं, कि रावण के साथ रहते हुए भी विभीषण उससे सर्वथा अलग था। उसके रहन-सहन आचार विचार, भजन पूजन, सब कुछ ही अलग थे। विभाजक रेखा के ठीक दूसरी ओर होते हुए भी यदि तुच्छ शरीर सम्बन्ध के ही कारण वह रावण को हर प्रकार से समझाने बुझाने की चेष्टा करता है—तो इसे भी एक प्रकार का सामान्य उपकार ही समझा जाना चाहिये। परोपकार के आस पास की ही एक दूसरी विशिष्ट वृत्ति है दया। क्योंकि परोपकार धन से ही नहीं मन से भी होता है, और वचनों का भी उसमें पूरा सहयोग होता है। सच तो यह है, कि वचन और मन से होने वाले परोपकार, अर्थोपकार से कहीं अधिक श्रेष्ठ होते हैं। अतएव यदि विभीषण के इस परोपकारी स्वरूप को आप देखना चाहते हैं, तो उस प्रसंग का अवलोकन कीजिए, जहाँ समुद्र संतरण के लिए प्रस्तुत राम की जिज्ञासा का उत्तर देता हुआ वह कहता है—"हे प्रभू वैसे तो आपका एक ही नाराच सैकड़ों अन्तहीन समुद्रों को सुखा डालने में समर्थ है—तो भी विनय के द्वारा ही इस कार्य को सम्पादित करना अधिक अच्छा होगा।"

ब्राह्मण वेष में लङ्का गये हुए हनुमान की साधारण आवभगति द्वारा अपनी ब्राह्मणप्रियता का थोड़ा बहुत परिचय तो वह पहले ही दे चुका है। अपनी नीति-प्रियता का प्रमाण भी दूत-अवध्यता के सिद्धान्त को निर्भीकतापूर्वक, रावण के समक्ष रखकर उसने उपस्थित कर दिया। सच पूछा जाये तो विभीषण के चरित्र के ये ही चार प्रमुख गुण हैं, और जिनका आरोप निश्चय ही सफलतापूर्वक उसके चरित्र में किया भी जा सका है। विवाद का यदि कहीं भी थोड़ा बहुत स्थान है—तो वह यही कि आखिर विभीषण की साधुता किस स्तर अथवा कोटि की थी। यद्यपि इस सबंध में, स्वतः श्रीराम का तो ऐसा ही विचार है कि विभीषण भी—एक निरीह—समदरशी एवम् 'सर्वधर्माणि परित्यज' मेरी एक शरण में आने वाले सतों में से ही है। और अपने इस विचार की पुष्टि भी उन्होंने दुबारा विभीषण का राज्य तिलक करते हुए

इन शब्दों में कर दी है, कि "यद्यपि मित्र तुम्हारी इच्छा तो नहीं है इसकी किन्तु तुम इसे मेरे अमोघ दर्शन का एक ध्रुव नियम ही समझ लो।" और यदि वासना को, अपने व्यापक रूप मे तृष्णा मात्र मान लेने में कोई आपत्ति न हो, तो विभीषण सत्यमेव अपने निरीह होने की सफाई देता हुआ कहता है-"उर कछु प्रथम वासना रही--प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।" अस्तु इन दोनों ही दृष्टियों व पक्षों से भी विभीषण, एक उच्च कोटि का निरीह-निष्काम सत ही प्रतिभासित होता है। किन्तु दूसरी ओर आचार्य शुक्ल का विचार है-कि विभीषण एक औसत दर्जे का साधु है। व्यावहारिकता की कसौटी पर, परखने पर यह विचार भी साकार अनुभव होता है। क्योंकि राम ने अपने मुख से, उसी के सामने, उसमें जिन जिन गुणों के विद्यमान होने की बात कही है-लौकिक दृष्टि से उसे लोक शिष्टाचार भी कहा जा सकता है। वह कोई वेद या ब्रह्म-वाक्य नही है। किसी के मुख पर ही उसके गुणो को गिनाने का आशय भारतीय दृष्टि से वाह्याचार निर्वाह ही कहा जायेगा। दूसर इस प्रकार की प्रशंसा में अतिरंजन की मात्रा अपने आप अधिक हो जायेगी। 'मुँह देखी बात' तो फिर ऐसी होती ही है। विचार कर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि राम-स्वयमेव, सिद्धान्तरूप मे इस प्रकार की मुँह-देखी-बात को लोक शिष्टाचार के अतिरिक्त और कुछ नही समझते। अपने गुणों कर्मों या उपकारों से उन्हे प्रभावित करने वाले किसी भी पात्र की प्रशसा वे अपने अन्य मित्रों, से करते हुये नही थकते। भरत के भ्रातृत्व, केवट के स्नेह, जटायू के उपकार, वानर भालुओं की सहायता, सुग्रीव के मैत्रित्व आदि की स्मृति तो जैसे-पल भर के लिये भी उनके हृदय से दूर नही होती—लगता है जैसे वे सर्वदा अन्तर्मुखी होकर इन पवित्र स्मृतियों की माला फेरते रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नही है, कि अपने को प्रभावित करने वाले व्यक्ति के समक्ष ही वे उसके गुणों की अतिरंजित अभिव्यञ्जना कर उसकी साधना को, बहुत कुछ डगमगा देने का खिलवाड़ कर बैठते हों। अन्यत्र तो उन्होंने-स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि, 'मुख पर केहि विधि करौं बड़ाई'। अस्तु विभीषण के चरित्र निर्देशन में राम के कथन का व्यवहारिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नही दिखाई देता। रहा यह कि विभीषण ने, भी तो अपने संबध मे, कुछ ऐसी ही अभिव्यञ्जना की है। तो इसका तो कोई मूल्य ही नहीं। हम कहते कुछ हैं, करते कुछ है। किन्तु हमारा मूल्य हमारे मौखिक कथन से नही-हमारे कर्म से आँका जायेगा। जीवन के सच्चे कर्म-क्षेत्र में गाल बजाने वालों का कोई महत्व नहीं है। विश्व की कठोर चट्टानों मे अपने चरण-चिन्हों के अमिट-अङ्क छोड़ जाने वाले ही यहाँ याद किये जाते हैं-और तो सब विस्मृति की नीरव-निष्पंद घाटी मे सदा सर्वदा के लिए विलीन हो जाते हैं।

व्यवहारिकता की इस कसौटी पर कसे जाने पर हमे ज्ञात होगा कि विभीषण अपना राज्यतिलक कराते हुए-एक बार भी—"ना, ना, ऐसा नहीं" का कृत्रिम

शिष्टाचार भी नहीं प्रदर्शित करता। यद्यपि यह सारी व्यवस्था इतनी शीघ्रता से संपादित हुई है, कि विभीषण को इस सम्बन्ध में सोचने समझने का थोड़ा समय भी नहीं मिल सका। किन्तु 'जातेहि रामतिलक तेहि मारा'—की सत्यता को स्वीकार करता हुआ भी कोई यह नहीं कह सकता कि उसकी राज्य-स्वीकृति का एक मात्र कारण यह समयाभाव ही था। सच तो यह है, कि एकबार भी—जिसने इस मार्ग पर (भगवत्-आराधन) पैर बढ़ा दिए फिर उसे अन्यथा सोचने समझने व पीछे मुड़कर देखने की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि 'प्रसाद' के शब्दों में तो—इस पक्के पथिक का शांत भवन में टिक रहने का उद्देश्य ही नहीं है। उसे तो उस सीमा का आलिंगन करना है—जो अन्तिम है। और जहाँ से फिर अन्यत्र जाने का कोई मार्ग भी नहीं अवशिष्ट रहता। यदि यह कहा जाये कि विभीषण उस समय बड़े असमंजस या संकोच में पड़ गया अथवा नये २ परिचय में, राम के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से इतना अधिक पराभूत हो गया, कि उसकी स्वकर्त्तव्य-निर्धारिणी-संज्ञा ही विलुप्त हो गई—तो इसे भी पूरी सच्चाई के साथ नहीं स्वीकार किया जा सकता। वरन् इससे तो यह स्पष्ट प्रकट होता है, कि अभी विभीषण तुलसी के 'संकोच सिंधु' अथवा परमसंकोची 'साहब राम' के सामान्य व्यक्तित्व से भी नहीं परिचित हो सका है। जो भी हो इस सम्बन्ध में चाहे आचार्य शुक्ल की धारणा ठीक हो अथवा फिर राम एवम् विभीषण के विचार ही अधिक सत्य-संगत हों—किन्तु इतना तो पूरी शक्ति के साथ कहा ही जा सकता है—कि भागवत्-क्षेत्र में एक बार भी पैर रख देने वाले—विभीषण को यह सौदा—इस विशेष क्षेत्र की आदर्श-मूल्याङ्कन-तुला के अनुसार काफी मँहगा पड़ा। काजल की कोठरी में एक बार जाकर उसमें पूरी तरह अछूता रह भी कौन सकता है। आप देखेंगे कि विभीषण को भी अन्त में, उसी 'कुचालि' अथवा 'करतूति' के कीचड़ में कूदना पड़ा जिससे बाहर निकालने के लिए राम को जाँ या बेजा एक बार बालि का बध करना पड़ा था। किन्तु दूसरी बार विभीषण द्वारा उसी की पुनरावृत्ति होने पर भी राम के क्षमा कर देने अथवा 'Over Look' किये जाने पर—तुलसी के राम की शरणागत वत्सलता तो निःसंदेह अधिक व्यापक हो जाती है किन्तु अध्यात्म-पक्ष के पथिक विभीषण के लिए निश्चित ही वह हेय एवम् त्याज्य सिद्ध हुई।

यह तो रहा—विभीषण के सम्बन्ध में। अब आप कैकेयी को ले लीजिए। कैकेयी चरमकोटि के यथार्थवादी पात्रों में नहीं है। हाँ उसके चरित्र का एक पोक्ष भले ही कुछ समय के लिए यथार्थवादी ढाँचे में ढला हुआ दिखाई देता है। वैसी तो दैवी-अभिशाप अथवा 'गई गिरा मति फेरि' की आड़ लेकर कुछ लोग उसे पूर्ण आदर्श-वादी पात्रों से भी एक चरण आगे ढकेल ले जाने का प्रयास करते हुए यह कहने में भी नहीं चूकते—कि "यदि अपने ऊपर तत्कालीन समस्त जन-क्षोभ, आक्रोश, व अभि-शाप लेकर कैकेई ने राम को वन जाने के लिए वाध्य न किया होता, तो उन्हें वानप्रा

ही कौन ? किन्तु हमे तो, किसी पात्र के कार्य व्यापारों द्वारा ही उसके चरित्र का अध्ययन करना होता है। प्रबन्ध के सीमावद्ध प्रांगण में अभिनय करते हुए किसी पात्र अथवा अभिनेता के चरणों की तालें कहाँ कहाँ कितनी और कैसी पड़ी हैं, आदर्श के सम के साथ उन्होंने कितनी बार हामी भरी है और यथार्थ के विषम् के साथ उन्होंने कितनी बार हुँकारी दी है—शील निरूपण के समय, हमें इन सब बातों का लेखा जोखा करना पड़ता है। और तब हम, किसी पात्र के चरित्र की वास्तविकता समझने मे समर्थ होते हैं। इस कसौटी पर कैकेयी के चरित्र की समीक्षा करने पर वह हमे, सामान्य यथार्थवादी पात्र के रूप में दिखाई देती है। सामान्य यथार्थवादी पात्र के रूप में, उसे देखने का मेरा आशय इतना ही है, कि किन्हीं परिस्थितियों में पड़ कर, उसके आदर्शवादी स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुआ है—अवश्य। किन्तु वह परिवर्तन कैकेयी के चरित्र का न होकर, उसके एक 'पोज' का परिवर्तित रूप है, जो कुछ नया, कठोर एवम खुरदरा होते हुए भी एक सीमा से घिरा हुआ है। और जो, चरमयथार्थवादी पात्रों के चरित्र की भाँति—आदि से लेकर अन्त तक, विरूप होने से बचा रहता है। जैसा कि एक बार पहले भी कह चुका हूँ—कि इस संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो संगदोष से, सदैव निर्लिप्त रहने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। दूसरे ऐसे हैं जिन्हे संगदोष प्रभावित किये बिना नही मानता। यह तो-हुई सामान्यों की बात। किन्तु कभी कभी विशिष्ट जन (सुजन) भी, उसके चंगुल में फँसकर अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल बैठते हैं। अस्तु यदि गोस्वामी जी के ही शब्दों में कैकेयी के चरित्र की साधारण रूप में व्याख्या करना चाहे, तो हमें कहना होगा—'विधिवश सुजन-कुसंगति परहीं—फणिमणि जिमि निज गुण अनुसरहीं।' कैकेयी के सम्बन्ध में, अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी संग-दोष को ही—उसके इस रूप परिवर्तन का कारण माना गया है। अध्यात्म रामायण के प्रणेता ने भी-इसी तथ्य की स्वीकृति देते हुए कहा है—

"संगः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैवऽहि। दुःसंगी च्यवते स्वार्थाध्येयं, राजकन्यका।"

आशय यह कि कुसंगति सदैव ही त्याज्य है। क्योंकि उससे राज्यकन्या कैकेयी के सदृश ही कोई व्यक्ति पथभ्रष्ट हो सकता है।

संगदोष से, एकबार अपने सत्स्वरूप को भूलकर असत्‌रूप ग्रहण करलेने वाली कैकेयी के इस परिवर्तित पोज़ की चर्चा कर लेना भी यहाँ अनुचित न होगा। कैकेयी के इस अचानक रूप परिवर्तन में जिस, उग्रता छल-कपट, हठवादिता, निरंकुशता एवम कौटिल्य का समावेश हो जाता है, वह संगदोष से कुपित हुए रोगी के लिए, तो स्वाभाविक है ही, साथ ही गोस्वामी जी की लेखनी के मार्मिक चरित्र चित्रण का भी उससे पता लगता है। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए किन्हीं भी साधनों, उपायों एवम् उपादानों को काम में लाने वाली, पति के अधिक मुंहलगी अथवा प्रोत्साहन पाने वाली, स्त्री समय पर कभी कभी कैसा उग्र रूप धारण करती है, और सीधे स्वभा-

का, पति किस प्रकार वरगलाया जाता है, उसकी उदारता, कर्त्तव्यनिष्ठा, एवम् वचनवद्धता की दुहाई देकर, उसके प्राणों के साथ भी खिलवाड़ करने में ये रूप-गर्विताऐं, क्या से क्या नहीं कर डालतीं, और तब अपने आँसुओं से ही अभिसिंचित, अपनी इस दुलार भरी विषवल्लरी को, अपने पैरों से कुचल डालने मे, असमर्थ, धर्म और संकट की विषम परिस्थितियों मे, पड़ा हुआ वह धर्मभीरु पति अन्त में किस दुर्दशा को प्राप्त होता है, आदि अनेक सूक्ष्म बातों की अकेली कैकेयी के चरित्र द्वारा जैसी विशद विस्तृत एवम् क्रमिक व्याख्या की है, उससे कवि के चरित्र चित्रण सम्बन्धी गहन अध्ययन की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

वास्तविकता तो यह है, कि कवि के सम्पूर्ण महाकाव्य मे यही एक ऐसा पात्र दिखाई देता है, जिसका चरित्र कुछ अधिक गतिशील (Dynamic) कहा जा सकता है। अन्यथा तो उसके प्रबन्ध मे, आनेवाले प्रायः सभी पात्र ऐसे हैं जो एक बधी हुई सीमा के अन्तर्गत ही अपना चारित्रिक विकास करते हुए देखे जा सकते है। अचानक परिवर्तन यदि किसी में होता है, तो वह कैकेयी ही है । आदर्श से यथार्थ और फिर यथार्थ से आदर्श की दो करवटें उसने अपने जीवन मे बदली हैं। यद्यपि उसकी दूसरी करवट की रूप रेखा, कवि के द्वारा कुछ धूमिल ही चित्रित की गई है। नहुष, नीचे से ऊँचे उठकर, फिर सदैव के लिए नीचे गिर जाता है, किन्तु कैकेयी ऊँचे से नीचे आकर, फिर ऊपर उठ जाती है। यद्यपि पुनरुत्थान के आख्यान को कवि ने अपने प्रबन्ध में कुछ संकोचमय स्थान ही प्रदान किया है, किन्तु यह सत्य है कि उसका पुनरुत्थान हुआ है। और सच पूछा जाये तो कैकेयी के चरित्र का यही वह स्थल है, जहाँ हमें गुप्त जी की यह पंक्तियाँ चरितार्थ होती दीख पड़ती है—"भूल इस भव में मनुष्य ही से होती है, मनुष्य ही से होता है फिर उसका सुधार भी।

कैकेयी के चरित्र की, एक दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि मानवीय संवेदना का जितना विस्तृत क्षेत्र उसे प्राप्त होता है कदाचित् गोस्वामी जी के अन्य किसी पात्र को नहीं मिल पाता। और इसका प्रमुख कारण यह है कि कैकेयी हमें गुण दोषमय मानवीय दुर्बलता की परिधि का स्पर्श करते हुए सबसे अधिक आगे दीख पड़ती है। अन्य पात्र या तो ऊर्ध्वा के प्रचंड प्रकाश में जगमगाते दिखाई देते हैं या फिर ध्रुवा के गहन अंधकार मे धूमिल। अतएव जब हम कैकेयी को, एकबार संग दोष स प्रभावित होकर, आदर्श से यथार्थ में पैर रखते और फिर दुबारा—"गरै-गलानि कुटिल कैकेयी" के रूप में यथार्थ से आदर्श की ओर अग्रसर होते देखते है, तो हमे ऐसा लगता है, कि जैसे यह पात्र भी हमारे बीच का ही, हमारी देखी भाली दुनियाँ का ही कोई जानामाना व्यक्ति है, जो परिस्थितियोंवश कुछ भूलें भी करता है, किन्तु फिर उन्हे सुधार लेने की चेष्टा भी करता है।

अब आप—चरम यथार्थवादी परिधि में आने वाले दो अन्य पात्रों के शील

से भी परिचित हो लीजिए । उनमें से एक तो कैकेयी की परिचारिका, विकराल मंथरा ही है। दूसरा लंकाधिपति रावण है । मंथरा, रोल अथवा अभिनय की दृष्टि से मानस का एक गौण पात्र ही कहा जायेगा। कवि ने भी उसके शील को प्रकाश मे लाने के लिए बहुत थोड़े से स्थान व अवकाश से ही अपना काम चला लिया है। किन्तु इस छोटे से क्षेत्र में भी यह पात्र अपनी जिस चमक दमक को साथ लेकर उद्भासित हुआ है—वह भी देखते ही बनता है। "सकैं न देखि पराय विभूती" अथवा जे बिनु काज दाहिने बायें, के सिद्धान्त को मानकर चलने वाले लोगों की, शोभा बढ़ाने वाले इस पात्र का प्रमुख गुण है, बैठे बिठाये किसी के घर में आग लगा देना। अपनी कूटनीति व वाक्य चातुरी द्वारा—दूसरे की बुद्धि में ऐसा विक्षेप पैदा कर देना, कि फिर जिसका सुधार असम्भव नहीं, तो दुःसाध्य अवश्य हो जाये यही इन पात्रों की प्रमुख विशेषता है। बरगलाने की कला से वे इतना अधिक परिचित होते हैं, कि बड़े से बड़े भी इनके चंगुल मे फँसने के लिए मजबूर हो जाते हैं। अपना रंग दूसरे पर चढ़ा देने, व उससे अपनी बात को प्रस्तुत करने का इनका ढंग भी निराला ही होता है। चगुल में फँसने वाले व्यक्ति को ये अपनी निष्काम सेवा का, तो ऐसा पाठ पढ़ायेंगे कि अधिकाधिक सतर्क रहने वाले व्यक्ति भी इनके गुम्फन मे आये बिना नहीं रह सकते। एक के बाद दूसरे और तीसरे, अपने सच्चे झूँठे तर्कों को ये इस प्रकार उपस्थित करेंगे कि उनमे पूरी तरह से सत्यता का आभास होने लगे। कूट-बुद्धि, दूरदर्शिता, व्यक्ति एवम् अवसर को समझने की इनकी प्रतिभा बहुत बढ़ी चढ़ी होती है। इनके कार्य की सीमा यहीं से नहीं समाप्त हो जाती, प्रत्युत एक बार अपने प्रभाव मे आये हुए व्यक्ति को अवांछनीय कार्य के संपादन की सम्यक-विधि अथवा शैली भी उन्हीं के द्वारा बताई जाती है। और सच पूछा जाये तो परोक्ष रूप में ये प्रभावित व्यक्ति के समस्त कार्य का संचालन व निरीक्षण करते हुए भी देखे जा सकते है। मंथरा के चरित्र में ध्यान से देखने पर उपरोक्त किसी भी कौशल का अभाव नहीं देखा जाता। अपने चरित्र-विकास के लिए थोड़ा सा अवसर व स्थान पाकर भी यह पात्र कहीं से भी शिथिल नही दिखाई देता।

रावण—तुलसी का दूसरा सबसे अधिक यथार्थवादी पात्र है रावण । जिसे समझने के पूर्व अच्छा हो यदि हम यथार्थवाद एवम् चरम यथार्थवाद पर भी थोड़ा सा विचार करलें। यह एक मौलिक सत्य है कि संसार में उत्पन्न होकर प्रत्येक देहधारी को अपने पोषण-संवर्द्धन एवम् विकास के लिए कुछ न कुछ करना आवश्यक होता है। जीवन पाकर पूरी तरह से अकर्मण्य होकर बैठा भी तो नहीं जा सकता। होता भी यही है। हममे से सभी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार कर्मों का संपादन करते हुए आगे बढ़ते रहते है। किन्तु हमारी यह प्रगति ऐसी नही है जो दूसरे के विकास मे बाधक बने। दुर्बलतायें आती हैं हमसे टकराती हैं—किन्तु उस समय भी हम यः

सोच लेते है, कि ससार में अकेले हमीं नहीं हैं-हजारों लाखों और करोड़ों की सख्या में और लोग भी यहीं रहते हैं। उन्हे भी जीने देना है। हमारे पैरों के नीचे यदि कठोर भूमि है तो आँखों के ऊपर कोमल आकाश भी है। दृश्य जगत के ऊपर एक अदृश्य लोक भी है। जिसे यदि हम देख न सकें तो यह हमारी भूल है। अस्तु यदि यह कहा जाय कि सच्चाई के साथ-अपनी २ योग्यता के कर्मों का संपादन करते हुए-लोक एवम् परलोक, दृश्य एवम् अदृश्य परा व अपरा दोनों का ही यथासभव समन्वय करते हुए आगे बढ़ना ही सच्चा यथार्थवाद है—तो कोई भूल न होगी। भारतीय दृष्टि से इसी को आदर्श भी कहा जा सकता है। वास्तव मे तो हमारा यह आदर्शवाद ही इतना व्यापक है, कि शुद्ध एवम् वांछनीय यथार्थवाद भी उसी की परिधि में आ जाता है। सुदूरदर्शी भारतीय मनीषियों ने, इसी लिए—आत्मा व शरीर दोनो के समुचित समिश्रण से ही जीवन के विकास की संभावना पर सदैव जोर दिया है। एक ओर यदि हमने, वाल्मीक, व्यास एवम् नारद को महत्व दिया है, तो दूसरी ओर हमने चरक, सुश्रुत, एवम् वाग्भट्ट की उपेक्षा भी नहीं की है। किन्तु यहाँ कुछ लोग ऐसे भी दिखाई देते है—जो 'स्व' के अतिरिक्त 'पर' को तो जैसे कुछ जानते ही नहीं और न जानना ही चाहते हैं। ये अपने विकास, कर्म, सेवा, त्याग, संग्रह, हर्ष-विषाद आदि सबके केन्द्र आप ही हैं। चर्मचक्षुओं से दृष्टिगत होने वाले जो भी भौतिक पदार्थ—ऐश्वर्य एवम् साधनायें है—उन्हीं पर इन्हें विश्वास है। अपने अथक व अविश्रान्त परिश्रम से इन्ही इहलौकिक भोगों का संचय करते हुए—ये अपनी रही सही—पारलौकिक दृष्टि अथवा सूक्ष्म चिन्मय शक्ति को भी खो बैठते हैं। और फिर "भोगों से भोग बढ़ते है"—के सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए एक वह दिन भी आता है-जब इनके अत्याचारों से समस्त लोकजीवन में, एक अनिवार्य विश्रृंखलता फैल जाती है। अंततोगत्वा होता क्या है—यह तो आप जानते ही हैं। लोक की बिखरी हुई जनशक्ति को एक बार फिर से सुसंगठित कर या तो कोई अदृश्य विशिष्ट शक्ति, या फिर अपने बीच का ही कोई महान व्यक्ति उस भयंकर रोग--जड़वाद अथवा यथार्थवाद का समुचित उपचार करने के लिए--आगे आता दिखाई देता है। इस दृष्टि से देखने पर--हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थवाद और कुछ न होकर—भौतिकवाद का ही दूसरा नाम है। जो हमें सापेक्ष सांसारिक सत्य से ऊपर उठकर—सोचने समझने का, यत्किंचित अवसर भी नही प्रदान करता। परिणाम क्या होता है—कि हम सूक्ष्मचेतन सत्ता से, पराङ्मुख होकर—प्रायः समस्त मानवीय अभिलाषों—दंभ, चाटुकारिता अथवा चाटुकार-प्रियता, स्वार्थ व शोषण आदि के केन्द्र बन जाते हैं। और चरमयथार्थवादियों का तो फिर कहना ही क्या? एक तो यह जन्मजात ही कुछ इसी प्रकार के होते हैं—दूसरे भौतिक ऐश्वर्यों का आवश्यकता से अधिक संचय, इनकी रही सही अन्तः अथवा सूक्ष्मदृष्टि को भी

समाप्त कर देता है। चरमयथार्थवादियों को, जन्मजात मान लेने में, मेरा आशय इतना ही है, कि जन्म से ही मानवीय सदाचारों के विरोधी होने के कारण—ये जड़-वादियों में भी अपवाद रूप से (Exceptionally) यथार्थवादी होते हैं। क्योंकि मानवीय सन्तति का यह एक सामान्य नियम है–कि मनुष्य आसुरी एवम् दैवी दोनो ही प्रकार के गुणों से समन्वित होकर ही यहाँ जन्म लेता है। मात्रा-भेद के कारण किसी में सत्‌गुण की प्रधानता होती है–और किसी में रज अथवा तम की। किन्तु पूर्ण रूप से किसी एक गुण से युक्त होने वाले व्यक्ति को हमें जन्मजात ही वैसा मान लेना पड़ता है।

रावण को भी इसी दृष्टि से हम जन्मजात यथार्थवादी मान सकते हैं। ऐसे पात्रों की सबसे प्रमुख चारित्रिक विशेषता है—सूक्ष्म चिन्मय अथवा आध्यात्मिक शक्ति की अविकल अवहेलना एवम् भौतिक शक्ति की विस्तृत नियोजना व तदजन्य अहंकार। रावण के चरित्र में भी आद्यन्त इन्हीं दो विशेषताओं की गहरी छाप दिखाई देती है। निष्काम भाव से की गई अध्यात्म साधना के एक अणु-परिमाणु में भी बड़ी से बड़ी भौतिक सत्ता को–पराजित करने की शक्ति होती है—इस विश्वास से पराभूत होना तो जैसे उसे आता ही नहीं। पारदर्शी दृष्टि तो जैसे उसने पाई ही नहीं। कंद मूल खाने वाले बंदरों की सहायता लेकर वल्कल वेषधारी तपस्वी राम भी उसे परास्त कर सकेंगे–ऐसा तो स्वप्न भी वह नहीं देख सकता। मर्कट-कटक के लिए उसकी स्पष्ट धारणा है कि वह उसके साथी निशाचरों के लिए अचानक एक साथ इतनी बड़ी मात्रा में भेजा हुआ भोज्योपकरण है। 'जो आवइ मर्कट कटकाई जियहि बिचारे निश्चर खाई।' तपसी राम को तो उसने स्त्री वियोग के ही कारण क्षीण व अशक्त मान लिया है। लक्ष्मण भी भाई होने के कारण–स्वभावतः बड़े भाई के दुःख से ही दुखी होंगे---इसे तो उसने साधारण ज्ञान (Commonsense) से ही समझ लिया है। बचा जामवंत–सो तो बूढ़ा होने के कारण---कफ और वात से ही घिरा रहता होगा। और भाई विभीषण की भीरुता तो उससे अधिक और जानता ही कौन होगा। बाह्य दृष्टि से देखने पर अथवा, तर्क की सामान्य कसौटी पर कसने से, ये सारी धारणायें---खरी भी उतरती हैं। संदेह के लिये वहाँ कोई स्थान भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। राम की विरह-विदग्धता का समाचार, हनुमान सीता को बहुत पहले दे चुके हैं। रावण ने भी यदि किसी दूती द्वारा—उसका पता लगवा लिया हो तो इसमें आश्चर्य की कौन बात। लक्ष्मण, जामवंत, अंगद, विभीषण प्रभृत्ति पात्रों के संबंध में उसने जो विचार स्थिर किये हैं उनकी स्वाभाविकता पर तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। यह तो रही रावण के चरित्र की वह विशेषता, जिसके द्वारा वह सूक्ष्म अध्यात्म अथवा पारलौकिक शक्ति की अविकल अवहेलना करता चला जाता है वस्तुतः तो इसी पारदर्शी दृष्टि के अभाव, यानी अध्यात्म चेतना की पूर्ण सुषुप्ति

का ही परिणाम है, कि मदांध रावण सामान्य लौकिक शील शिष्टाचारों का प्रचंड विरोध करने में भी नहीं हिचकता। एक तो किसी दूसरे व्यक्ति की पत्नी का अपहरण ही कोई भला आदमी अच्छा न समझेगा---दूसरे यदि ऐसी भूल हो गई तो स्वजनों, मित्रों, और मंत्रियों की उचित सम्मति मिलने के उपरान्त तो कम से कम उसका निराकरण कर ही लेगा। किन्तु रावण इन दोनों ही विचारों का विरोधी है।

जिसका कारण है अत्यधिक भौतिक शक्ति संचय के द्वारा उत्पन्न उसकी कर्तव्यमूढ़ मदांधता, जो उसके चरित्र की दूसरी विशेषता है। अपने सत्स्वरूप को पहचानने के लिए यदि उसे थोड़े बहुत अवसर मिलते भी है तो वह उन्हें हँसकर उड़ा देता है। यह उसके चरित्र की तीसरी बड़ी विशेषता है जिसे आप निर्लज्ज-हास्य की संज्ञा भी दे सकते है। जब अपने स्वामी का परिचय देते हुए हनुमान उससे कहते हैं, कि मैं संसार की उत्पत्ति और विनाश के आधार—खरदूषण, त्रिसरा और बालि का वध करने वाले उन श्री राम का दास हूँ, जिनकी प्रिय पत्नी को तू चुराकर ले आया है, तेरे बाहुबल व शौर्य की, तो एक एक बात-सहस्रबाहु से युद्ध—बालि से युद्ध—से मैं परिचित हूँ। तो भी आत्मनिरीक्षण के इस अवसर को रावण हँसी में ही उड़ा देता है। मन्दोदरी के समझाने बुझाने पर भी वह कई बार इसी निर्लज्ज हँसी का सहारा लेकर सचेतना के अमूल्य अवसरों को यों ही खो देता है। हाँ मन्दोदरी व अङ्गद के साथ हुए वार्तालाप मे तो उसकी इस हँसी का कुछ व्यंगप्रधान रूप भी देखने को मिलता है, जिससे उसकी शब्द-शक्ति का भी थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त होता है। आशय यह कि उसकी भ्रांतिमयी निर्लज्ज हँसी का प्रसार उसके जीवन में यहाँ तक परिव्याप्त हो चुका है कि सहसा अपने छत्रमुकुट एवम् तांटक आदि को भूलुंठित देख कर भी, आत्म-निरीक्षण का विवेक उसमें नहीं जगपाता। वरन् इस घटना विशेष से अपने समस्त सभासदों को एकाएक त्रस्त व भयभीत देखकर वह यहाँ भी—अपने उसी विडम्बनात्मक हास्य को प्रश्रय देता हुआ कहता है—"सिरहु गिरे संतत शुभ जाही- मुकुट परे कस असगुन ताही।" उसकी मदांधता का इससे अधिक विराट रूप और क्या हो सकता है, कि दो दो बार राम के भेजे हुए दूतों की अवहेलना स्वतः अपने दूत, मंत्री, स्त्री और भाइयों की अवहेलना—यहाँ तक कि अपने पूज्य पितामह की अवहेलना करने में भी वह नहीं हिचकता। यह उसकी मदांधता का ही नहीं प्रत्युत उसके यथार्थवादी चरित्र की चौथी विशेषता 'हठवादिता' का भी सफल परिचायक है। और सीता का अपहरण तो न केवल उसके गिरे हुए नैतिक स्तर का प्रत्युत यथार्थ की सीमा-रेखा के अन्तर्गत आने वाले अन्य दुर्गुण—परस्वत्वापहरण, शोषण आदि का भी परिचायक है। चाटुकार प्रियता के भी दो एक स्थल उसके चरित्र में देखने को मिलते है। सभ्योचित-व्यवहार का तो उसमें यहाँ तक अभाव है कि वह अपने विचारों से मेल न रखने वालों से

संपर्क बनाये रखना तो दूर—उन्हें लात लगाकर भी जैसे वह संतुष्ट नहीं होता। माल्यवंत को तो न जाने किस आध्यात्मिक स्थिति में, उसने अपने पक्ष से बाहर निकल जाने की आज्ञा देकर ही संतोष कर लिया। किंतु भाई विभीषण और ऋषि अगस्त्य के अभिशाप से पीड़ित एक अन्य राक्षस-दूत के तो लात लगाने के बाद भी जैसे उसकी दयनीय प्यास को दो बूँद जल नहीं मिल सका। मारीच, मेघनाद, कुम्भकर्ण यहाँ तक अपने सभी सगे स्वजन सम्बन्धियों की—व्यर्थ हत्या का श्रेय लूटते हुए उसकी आँखे नहीं खुली। यहाँ तक कि अपने अन्तिम क्षणों में भी आँखों के सामने खड़ी हुई सूक्ष्म चिन्मय शक्ति से वह पराभूत नहीं हो सका। वहाँ भी उसका अहंकार गरजता हुआ कहता है—'कहाँ राम रन हतौं पचारी।'

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त एक परम यथार्थ वादी चरित्र में, जिन विशेषताओं, दुर्गुणों और दोषों का होना आवश्यक होता है, उनमें शायद ही कोई ऐसा हो-जो रावण के चरित्र मे सामान्यतः न दिखाई देते हों। अतएव गोस्वामी जी के चरित्र चित्रण सम्बन्धी कौशल के लिए निर्भ्रांत होकर हम यह कह सकते हैं कि न केवल, आदर्शवादी, प्रत्युत गौण एवम् यथार्थवादी पात्रों के—शीलोद्घाटन में भी इस क्रांतिदर्शी कलाकार को पूरी सफलता प्राप्त हुई है।

रीतिकाल का साहित्यिक महत्व

आज के इस भयंकर प्रगतिशील युग में जब चारों ओर समाजवाद व साम्यवाद का बिगुल बज रहा है; रोटी और कपड़े की तलाश में भूखे भेड़िये की तरह आदमी दिन रात एड़ी चोटी का पसीना एक कर रहा है, साहित्य के क्षेत्र में भी मानवता की नंगी फोटो खींचने की दलीलें दी जारही है, ईंट, रोटी, लालटेन भूख आदि परम प्रगतिशील विषयों पर सफल रचनायें की जारही है, छायावादी कवियों को पलायनवादी, और रोमांटिक लेखकों को खुलेआम क्षीण बताया जारहा है, तब भारतीय वाङ्मय के उस युग का तो नाम लेना भी हिमाकत होगी, जिसमें रूप-रस व रूपसियों के माधुर्य की ही चर्चा कवियों का प्रमुख विषय रहा है, या फिर गिरे ऊँचे रसिक मनों को ही रससिक्त करने का प्रयास किया जाता रहा है। जिसमें प्रोषितपतिकाओं की आँखों का पानी व कृष्णाभिसारिकाओं के हाव-भाव कटाक्ष ही देखे जाते रहे है। तो भी घुसकर तमाशा देखने वालों को रोक ही कौन सका है।

खैर! छोड़िये इस बखेड़े को, तनिक मेरी ओर देखिए। मैं निहायत शरीफाने तौर से आपसे एक बात पूछना हूँ, वह यह कि भारतीय वाङ्मय का यह तीसरा युग जिसे रीति-युग, सामंत-युग, शृङ्गार-युग और न जाने कितने ऐसे ही नामों से, पुकारा जाता है, जो भारतीय साहित्य में शताब्दियों तक एक प्रबल वेगवती धारा के सदृश ही प्रवाहित होता रहा है और जो आज भी रूपान्तरित रूप में वेश-विन्यास बदल कर हमारी आपकी आंखों के सामने आता ही रहता है, आखिर इस मनमानी घरजानी का कोई कारण भी है? या फिर तीन चार सौ वर्षों का यह साहित्य निष्प्रयोजन है, निष्प्राण है केवल कूड़ा करकट है।

हिन्दी के 'रासो-युग' को उठाकर यदि आप देखें तो आपको ज्ञात होगा कि तभी से हमने विरह-मिलन की धूप-छाँही चादर ओढ़नी आरम्भ कर दी थी। रूप हमें तभी से अपनी ओर आकर्षित करने लगा था। और यह आकर्षण तो कभी कभी इतना तीव्र हो उठता था, कि उसकी प्राप्ति में प्राणों की बाजी लगा देने में भी हमें सुख का अनुभव होता था। और थोड़ा सा ऊपर उठकर देखें, तो हमें ज्ञात होगा कि शृङ्गार के इन कोमल उपकरणों से संस्कृत साहित्य का एक विशाल भाग भरा पड़ा है। कालिदास, माघ, भारवि, दंडी किसी को भी उठा लीजिए, शृङ्गार से कोई भी आपको अछूता न मिलेगा। सच पूछा जाय तो हिन्दी को रीति परम्परा की यह भेंट संस्कृत-वाङ्मय से ही प्राप्त हुई है। "ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे" जैसी ललित व कोमल पंक्तियों के स्रष्टा गीत-गोविंद के प्रणेता जयदेव की याद

में अपने एकान्तिक क्षणों में आज भी आती रहती है। कोमल भाव गीतों की यही परम्परा मैथिल-कोकिल विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, घनानद, आलम आदि से लेकर आधुनिक युग के स्वर्गीय 'प्रसाद' निराला, पंत एवं महादेवी आदि की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। यह बात और है कि विषय और भावनाओं की व्यंजना में उत्तरोत्तर परिवर्तन होते गये हैं, किन्तु हमारी भाव-भूमि-का आधार वही रहा है, जिसका नाम है शृङ्गार अथवा प्रेम। सूर ने विभिन्न पद-शैलियों में अपने गीतों की रचना की। राधा और कृष्ण की मिलनोत्कंठा पर ही केन्द्रित न रहकर वात्सल्य और भक्ति के अनूठे भावों की माला भी उन्होंने गूँथी। 'विनय' को तो आत्म-निवेदन की असीम तन्मयता से ओत-प्रोत सर्वस्वार्पण की भावना से प्रेरित होकर तुलसी के नेत्रों से बही हुई भाव-मंदाकिनी ही समझना चाहिए। जिसमे एक बार भी गोता लगाकर, मानव तरण-तारण बन जाता है।

रीतियुग व उसके भाव-जगत को यदि हम चाहें, तो संस्कृत साहित्य की दबी हुई प्रेम-मूलक वृत्तियों का उभार भी कह सकते है। अन्तर इतना ही है कि संस्कृत साहित्य में संयोग का बाहुल्य है और रीति-युग में संयोग व वियोग दोनों की प्रचुरता है। इसका भी एक विशेष कारण है वह यह कि संस्कृत ग्रन्थों के प्रणयन के समय भारत पूर्णरूप से सम्पन्न था, किन्तु रीतियुग मे उसकी सम्पन्नता बहुत कुछ शिथिल पड़ चली थी। आधुनिक युग में कोमल भावों की वही परम्परा प्रसाद व महादेवी के गीतों में भी अधिक परिमार्जित स्वरूप में देखी जा सकती है। यह बात और है कि इनके विरह-विदग्ध प्राणों ने, प्रियतम को नहीं, प्रियतम के वियोग को ही, प्रियतम से भी अधिक प्रिय माना हो। "पीड़ा में तुझको ढूँढा अब तुझमें ढूढ़ूँगी पीड़ा" श्रीमती महादेवी वर्मा की इस लोकप्रिय पंक्ति का आशय भी सम्भवतः यही है। किन्तु इससे क्या, इन युगान्तरकारी कवियों की भावानुभूति का आधार तो वही है यानी शृङ्गार अथवा प्रेम। इन चार पाँच युग-प्रतिनिधि कवियों के अतिरिक्त भी एक बड़ी संख्या में, उन रोमांटिक कवियों के नाम भी लिए जा सकते है, जो परोक्ष रूप मे उसी धारा अथवा परम्परा के प्रवर्त्तक हैं। जिनमे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अंचल, सुमन, बच्चन, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिनहा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर हमारे सामने एक प्रश्न यह भी उठ खड़ा होता है कि आखिर 'रोटी और भूख' के इस संघर्ष युग मे भी, भूख की भयंकर विभीषिका के मध्य भी, रीति अथवा शृङ्गार की इस अविच्छिन्न धारा के प्रवाह का अर्थ ही क्या हो सकता है। मैं तो आपसे कहूँगा कि उसका केवल एक ही अर्थ है और वह यही कि शृङ्गार आकर्षण, प्रेम अथवा रोमांस, मानव जीवन की सबसे पहली व अन्तिम मनोवृत्ति है। उसे न कोई वाद मिटा सकता है और न कोई विचार हटा सकता है। यह बात और है कि सभ्यता संस्कृत व साहित्य के उत्तरोत्तर प्रसार के साथ उसका रूप भी अधिक

धिक शिष्ट एवं शिव होता जाय। किन्तु "काम से मंगल मंडित श्रेय सर्ग इच्छा का शुभ परिणाम" प्रसाद की इन पंक्तियों के ध्रुवसत्य का विनाश असम्भव है।

साहित्यकार यदि एक ओर युग का निर्माण करता है, तो दूसरी ओर समाज की परम्पराएँ भी उसे प्रभावित किये बिना नहीं मानतीं। यदि एक ओर वह युग-स्रष्टा है, तो दूसरी ओर युग-निर्मित भी। "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" जिस पर आज भी विवाद होना शान्त नहीं हुआ है, मेरा विश्वास है कि यह कवि की आवाज नहीं—युग की आवाज है। और उस युग की, जिसमें मीरा जैसी विशिष्ट नारी की, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मिटा देने के लिए—उसे ज़हर का प्याला, साँप का पिटारा और न जाने क्या क्या इसी प्रकार की योजनायें की गयी। इसी प्रकार, "विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे" (कवितावली) में भी, उस युग की पथ-भ्रष्ट साधुता पर बाबा जी ने जैसी मीठी चुटकी ली है, उससे अधिक अच्छा और उसका रूप ही क्या हो सकता था। साहित्य के दो प्रधान पक्ष, भाव एवम् कला में, एक को साहित्य का प्राण—तो दूसरे को उसका शरीर माना गया है। नदी बिनु बारी की भांति, जिय बिनु देह का होना भी असम्भव है। यह सही है, किन्तु स्वस्थ शरीर में ही—स्वस्थ प्राणों का भी निवास होता है, यह भी कम सत्य नही है। कला एवम् भाव दोनों में ही न्यूनाधिक अन्योन्याश्रित—सम्बन्ध ही माना जाता है। कला से मेरा प्रयोजन यहाँ केवल अलङ्कार अथवा—रस-परिपाक मात्र से ही नहीं है। मेरा आशय कला के अत्यन्त व्यापक रूप से है, जिसमें अभिव्यक्ति की प्रत्येक कलात्मक शैली का समावेश हो जाता है। उसके लिए, बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की रचना का एक ही उदाहरण, अलम् होगा। 'आँसू' में अपने प्रेमाश्रुओं की लड़ी पिरोते पिरोते, कवि एक स्थल पर कह उठा है "चातक की चकित पुकारें श्यामाध्वनि सरस रसीली—मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।" इन पंक्तियों में कवि का अभीष्ट भाव इतना ही है, कि सारा संसार उसके आँसुओं से गीला है। किन्तु इस भावना की अभिव्यक्ति के लिए, उसे श्यामा व चातक का भी आह्वान् करना पड़ा है। यह कथन का सौन्दर्य अथवा व्यञ्जना की मार्मिकता है। सीधे सादे शब्दों में यदि यह कह दिया जाए, कि समस्त संसार ही मेरे आँसुओ से गीला है—तो उसमें कला के उस सौन्दर्य का जो, नीरस को सरस, और निर्जीव को भी सजीव बना देने की क्षमता रखता है, आनन्द नहीं लिया जा सकता।

रीति युग में साहित्य के इसी पक्ष को चमकाने का प्रयास किया गया। और वह चमका भी खूब। आज भी उसकी चमक दमक देख कर हम हैरान हो जाते हैं। अभिव्यञ्जना का ऐसा चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य की ऐसी कसरत, अन्यत्र देखने को नही मिलती। बिहारी का एक दोहा इस सम्बन्ध मे बार बार स्मरण हो आता है।

"कुल कपूत अरु दीप की गति एकै विधि जोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़ै अँधेरो होय ॥"

'बारे' और 'बढ़ै' दो श्लेष शब्दों के बल पर, 'कुल-कपूत' और 'दीप' के जीवन-साम्य की, जैसी अभिव्यक्ति यहाँ की गयी है, वह कितनी सौम्य, कलात्मक एवम् वास्तविक है। घर के आँगन में खेलते हुए अपने ही हृदय के टुकड़े, उस नटखट बालक को, देखकर एक दिन पिता का हृदय आनन्द की कितनी गम्भीर जलराशि में डुबकियाँ लगाता और आनन्दमग्न होता है। वात्सल्य के इस परम कोमल अगाध सिंधु मे आकठ डूबकर भी जैसे उसे संतोष नहीं होता। किन्तु कालान्तर में जब वही बालक सयाना होता है, किशोर होता है, और आये दिन कर्कश उपालम्भों से, उसी पिता की दम घुटने लगती है, तब उसकी आँखों की नीरवता में वही अन्धकार (अँधेरो) छा जाता है, जिसकी ओर बिहारी ने अपने उपरोक्त दोहे मे अँगुलि-निर्देश किया है।

दूसरी ओर कविवर घनानन्द की इन पंक्तियों का भी आनन्द लीजिए, जिनका रसास्वादन् करते हुये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने—अपनी ऐहिक लीला समाप्त की थी। और जिनके सुनाने वाले थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द।

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकौ सयानप बाँक नहीं।
तँह साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं ॥
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तैं दूसरी आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला, मन लेत पै देत छटाँक नही ॥

"तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ......देत छटाँकनहीं" में (हृदय चुराकर भी) मन लेकर भी—छटाँक न देने की, यानी सामान्य लोक व्यवहार की भी अवहेलना करने की यह शिकायत कितनी वाजिब है। और उसकी अभिव्यक्ति कितनी स्वाभाविक बन पड़ी है। 'मन' शब्द के श्लेष ने कैसा कमाल दिखाया है। रीतिकाल का प्रायः सम्पूर्ण वाङ्मय ही इस प्रकार की अनूठी उक्तियों से भरा पड़ा है। सूक्ष्मावलोकन के उपरान्त हमे यह भी पता चलता है, कि इस विशाल साहित्य के श्रष्टा भी दो वर्गों में बँटे हुए थे। एक तो आचार्य के नाम से अभिहित किये जाते हैं, दूसरे वे जो केवल कवि के नाम से विख्यात हैं। इन आचार्यों ने तो केवल अपने वैदग्ध्य का ही परिचय दिया है, लक्षण-ग्रंथों में दी हुई परिभाषा की ही लीक इन्होंने पीटी है। इनकी रचना लोगों के हृदयों को रससिक्त नहीं कर सकी। फिर भी साहित्य शास्त्र के ज्ञान की दृष्टि से ये आचार्य-विशेष सम्मान के अधिकारी है। सामान्य साहित्य से सम्बन्धित इनकी देन, न कुछ के ही बराबर थी, तो भी इन्होंने जो कुछ दिया—वह कूड़ा करकट ही न था।

वीरगाथाकाल में तो हमें साहित्य का थोड़ा बहुत भी विकसित रूप देखने

को नहीं मिलता भक्तियुग में ईश्वर और जीव की ही व्याख्या अधिक होती रही। शुद्ध कला के दृष्टिकोण से साहित्य के पठन पाठन का कोई भी समुचित कसौटी नहीं बनायी जा सकी। रीतिकाल में संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञों ने काव्य की वैज्ञानिक व्याख्या की। साहित्य के शास्त्रीय भेद-विभेदों पर विचार प्रकट किए। एक ओर वे आचार्य-शास्त्री व वैज्ञानिक बने—दूसरी ओर उन्होंने काव्य रचना भी की। यही कारण है, कि रचना के क्षेत्र में आत्मतल्लीनता के गुण से वे बहुत कुछ वंचित रहे। पद्माकर, देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, आदि जन्मजात कवि थे। शास्त्रीय परिपाटी का दामन पकड़कर चलने के कारण, इनकी प्रतिभा भी बहुत कुछ संकोच में पड़ी किन्तु इस सकोचशील-प्रतिभा में भी यत्र तत्र ऐसी अनूठी उक्तियों के दर्शन होते हैं, कि हम उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

आदमी की अहम् भावना—उसकी अहमन्यता ही उसकी असफलता का कारण है। इस चिरतन् सत्य की व्यंजना करते हुये कविवर रसनिधि ने, कितनी, जबर्दस्त दलील दी है। उनका कहना है—

औघट घाट पखेरुवा, पीवै निर्मल नीर।
गज गरुआई ते फिरै, प्यासे सागर तीर॥

गज और पखेरुवा—अहंकार व विनम्रता का क्रमशः अर्थद्योतन करने वाले, इन दो शब्दों पर ही समूची अन्योक्तिमयी व्यंजना खड़ी की गई है। पखेरुवा शब्द में, जितनी विनम्रता है—पखेरू व पक्षी में उतनी नहीं। जायसी ने भी नागमती का संदेश, भ्रमरों व कागों के हाँथ, भिजवाते हुये कहा था—

"प्रिय सन कह्यो संदेसड़ा—हे भँवरा हे काग।
सो धनि विरहनि जरि मुई ताहिक धुंआ हम लाग॥

'सदेसड़ा' शब्द में जितनी कोमलता, करुणा व छटपटाहट है—वह संदेश में कहाँ। 'भवरा' और 'काग' में जो आत्मीयता है—अपनत्व है, वह भ्रमर व कौए या काक में नहीं आ सकती। शब्दों के तोलने का यह कार्य रीतिकाल के कवियो ने भी, कितनी सूक्ष्मता से संपादित किया है, यह भी विचारणीय है।

काव्य का अंतरंग व बहिरंग, समानरूप से महत्वपूर्ण है। इस संबंध में कुछ निवेदन पहले भी कर चुका हूँ। वीरगाथाकाल, विशेषतः भक्तिकाल में काव्य का अंतरंग तो स्वस्थ हो गया—पर शरीर अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल बना रहा। यह बात, एक दो महान कवियों की रचनाओं के ही लिए नही कही जा रही है, यहाँ मेरा प्रयोजन, भक्तियुग के समस्त वाङ्मय से है। कबीर की भाषा के स्वरूप से तो आप सभी परिचित ही हैं, जिसमें वचनों, कारकों आदि का भी कोई व्यवस्थित रूप नहीं है। भक्तियुग के तुलसी और सूर को थोड़ा बहुत छोड़कर अन्य कवियों ने भी उस ओर ध्यान नहीं दिया। ईश्वर प्रेम में मतवाले इन भक्तहृदय कवियों को, साहित्य के,

इस स्थूल पक्ष की ओर ध्यान देने का अवकाश भी कम था। आवश्यकता भी नहीं थी—यह बात और है। मेरा आशय यहाँ इतना ही है, कि साहित्य का वह पक्ष (वाह्य) अपेक्षाकृत कुछ कम स्वस्थ रहा। ब्रज, बुंदेलखंडी, आदि अनेक विभाषाओं अथवा स्थानीय भाषाओं के ग्रंथ, आत्मा से कितना भी स्वस्थ क्यों न हों शरीर अथवा कला पक्ष की दृष्टि से वे दुर्बल ही कहे जायेंगे। रीतयुग के कवियों ने भाषा का यथासाध्य परिष्कार किया। कहा जाता है कि भूषण ने अनुप्रास के लोभ से, शब्दों को मनमाने तौर पर तोड़ा मरोड़ा है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हमें यह भी पता चलेगा कि उन्होंने भाषा का बहुत कुछ परिष्कार करने की भी कोशिश की है। युग चेतना को जगाने वाला कवि केवल तुक्कड़ ही नही हो सकता। हिन्दू संस्कृति—अपनी रक्षा के लिए, रीति युग के इस कवि को जो भी आदर दे थोड़ा है।

यह सभी जानते हैं कि रीतिकाल के कवि जड़िया कहे जाते हैं। इसमें सदेह भी नहीं। शब्दों की पच्चीकारी व बेल बूटे का काम जैसा उन्होंने दिखाया अन्यत्र उसके दर्शन की साध अधूरी ही रह जाती है। एक एक शब्द को तोलने और फिर उसे यथास्थान जड़ देने का काम, उन्होंने किस बारीकी से किया है इस संबध मे, कविवर सेनापति की, कुछ पंक्तियों का भी आनन्द लेते चलिए। अर्चना के भार से दबी हुई पाषाण प्रतिमा को ही, भगवान समझ बैठने के भ्रम का उच्छेदन करते हुए वे एक स्थल पर कहते है:—

"धातु सिलादार, निरधार, प्रतिमा कौ सार,
सो न करतार तू विचारि बैटि गेहरे।
कर न संदेह रे, कही मैं चित देहरे,
कहा है बीच देहरे, कहा है बीच देहरे।

भाव के साथ, भाषा का ऐसा आत्मसमर्पण, अन्यत्र कम स्थलों पर देख पड़ता है। भाषा व भाव के इस कोमल तादात्म्य के अभाव में ही रचना शुष्क-वाणी-व्यापार बनकर रह-जाती है। प्रबंध काव्य में कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिए, जितना अवकाश व स्वातंत्र्य प्राप्त है, मुक्तक में, स्थानाभाव के कारण, उतना ही उसके हाँथ जकड़े रहते है। एक छोटे से छन्द में उसे समस्त कलात्मक गुणों का सन्निवेश करना अनिवार्य होता है। विस्तृत वनस्थली में जहाँ सैकड़ों प्रकार के पुष्प पादपों का, एक मेला सा लगा रहता है, यदि एकाध, कटकाकीर्ण झाड़ भी निकल आये, तो उसकी शोभा में विशेष अन्तर नहीं आने पाता। किन्तु किसी गुल्दस्ते अथवा पुष्प-स्तबक में लगे हुए एक भी फूल के रंग रूप अथवा पत्ती के बनाव-छटाव में, यदि कोई त्रुटि रह जाती है तो जैसे सारा मजा ही किरकिरा हो जाता है। छोटे से गुलदस्ते में छोटा सा यह दोष भी नहीं खप पाता। अतएव मुक्तककार को, एक एक छन्द, एक एक भाव, यहाँ तक कि एक एक शब्द को रखने के लिए भी एक एक

कदम पर रुकना पड़ता है। अर्थ-गांभीर्य, रस-परिपाक, अलंकार-योजना आदि न जाने कितनी सूक्ष्म बातों पर उसे अपनी दृष्टि जमाये रखनी पड़ती है। रीतियुग के कवियों ने इस क्षेत्र में कितना परिश्रम किया होगा—यह भी विचारणीय है।

यह मानने के लिए प्रस्तुत होते हुए भी, कि उस युग के प्रतिनिधि कवि बिहारी की बहुत सी शृङ्गार-परक रचनाएँ, सार्वजनिक संस्थाओं में गा गा कर नहीं पढ़ी जा सकती, मैं इससे सहमत नहीं कि वे समस्त भाव कूड़ा कर्कट हैं। व्यक्तिगत रूप व व्यक्तिगत जीवन मे उनका भी महत्व है। एकांत क्षणों की रूक्षता और एकाकी जिन्दगी की मनहूसियत को दूर कर उसे कुछ सरस व आकर्षक बनाने का श्रेय इन्हीं कवियों को है। हम सदैव सार्वजनिक नहीं, हम सदैव तपस्वी व त्यागी भी नहीं, कभी हम—मनुष्य—अपने समस्त भाव अभावों से युक्त, मनुष्य भी बनते हैं। और अपने एकांतिक क्षणों में अपनी राग-विरागमयी कल्पनाओं से अपना मन भी बहलाना चाहते हैं। कोरा आदर्शवाद भी, उतना ही धोखे बाज़ है, जितना कि कोरा यथार्थवाद खतरनाक है। जीवन का सच्चा स्वरूप तो आदर्श और यथार्थ का समन्वय है। क्योंकि जीवन न तो भयंकर तूफ़ान ही है और न तूफान के पहले की वह खामोशी ही है, जिसका आधार है अखंड निश्चेष्टता। प्रत्युत जीवन तो लहरों का वह मधुर आलोड़न है जो शाश्वत है चिरंतन है और है शिव सुन्दर। न तो मोटर की तरह सरपट दौड़ना ही हमें अभीष्ट है और न चींटी की तरह रेंगना ही हमारा धर्म है। न हम आकाश के ही अधिवासी है और न पाताल के। हम रहते हैं ऊर्ध्वा और ध्रुवा के बीच। जहाँ तृप्ति भी है, प्यास भी, अश्रु भी है, हास भी।

बिहारी के इस दोहे पर भी दृष्टि डालिए किस खूबी के साथ इस चित्रोपम व्यंजना का निर्वाह हुआ है।

"रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चलो कुंजर कुंज समीर॥

कुंजर और कुंज–समीर की गति होती सचमुच जीवन की गति है। जो मंद होते हुए भी बंद नहीं है, स्वच्छन्द है और स्वच्छन्द होते हुए भी निरंकुश नहीं, मर्यादित है। अस्तु यह कहना कि हमारा तीन चार सौ वर्षों का, रीतियुगीन साहित्य व्यर्थ का कचड़ा है नितान्त भ्रामक है। हर युग की अपनी एक लहर होती है। सम्राज्ञी इलेजाबेथ के शासन काल में भी इंगलैंड में एक ऐसी ही लहर आ चुकी है। और वहाँ के साहित्य क्षितिज पर भी उद्दाम-यौवन और कोमल अभिलाषाओं की मकरंद–मेघ मालायें घिर चुकी हैं। यह सही है कि भक्ति–काव्य के, व भक्ति-धारा के संत कवियों की तुलना में यद्यपि रीतियुगीन कलाकारों की देन बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, तो भी उसका अपना एकांतिक मूल्य व सौन्दर्य है। उसमें कहीं कहीं तो भक्ति भावना - ईश्वरोन्मुख प्रेम की भी ऐसी भावुक व्यंजनायें दृष्टिगत होती हैं जो अपने क्षेत्र में अनूठी व बेजोड़ हैं

बिहारी की भक्ति भावना

रीति युग के कवियों के प्रति सामान्यतः आज हमारी धारणा कुछ कुण्ठित सी ही दिखाई देती है। कुछ पुराने साहित्यिकों को छोड़कर, आधुनिक साहित्य-प्रेमियों से लेकर, साहित्य महारथियों तक, किसी से भी इसकी चर्चा चली, कि उसने आड़े हाथों लेना शुरू किया। "वही बिहारी राजदरबारों की उच्छिष्ट पर पलने वाला। राजा जयसिंह को एक बार अविकसित कलिकाओं से दूर रहने का सन्देश देकर फिर उसे वही उलझा देने वाला बिहारी," और केशव, वह 'दिनकर वानर अरुण मुख' वाला केशव न। वह भी कोई कवि है, जिसे यह भी तमीज नहीं कि नारियल, सुपारी और केले भारत मे कहाँ और किस जलवायु में पनते है। वृद्धावस्था में भी जिसे अपने बालों के पकने का दुख केवल इसलिए बना रहा कि अब चन्द्रमुखियाँ उसे बाबा कह कर पुकारती हैं—ऐसे व्यक्ति का, चारित्रिक स्तर कितना ऊँचा रहा होगा। कहने का आशय यह कि रीतिकाल की चर्चा चली नहीं, कि आफत आई। और यदि कहीं आपने किसी प्रगतिशील रंग मंच पर बैठकर, इस परम्परा के प्रवर्तकों का नाम ले दिया, तो फिर ईश्वर ही मालिक। बड़ा सौभाग्य समझिये आप अपना, यदि आद्यान्त आप वहाँ बैठे रहने दिये गए।

इन सब बातों के बावजूद भी मुझे आपसे कुछ कहना है, अच्छा हो यदि आप उसे उपदेश की कोटि में न लेकर एक विचार-विमर्ष के रूप मे ही देखें। सबसे पहली बात तो मुझे आपसे यह कहनी है, कि क्या, रचना-कौशल की परीक्षा के लिए आज तक कोई एक कसौटी बनाई जा सकी है। और मुंडे मुंडे मतिर्भिन्न; के होते हुए क्या इस प्रकार की किसी एक कसौटी का निर्माण सभव भी हो सकता है। हाँ यह बात और है, कि हम कुछ मोटी बातों के आधार पर, जिसमे रस, रीति, भाव, ध्वनि, अलङ्कार आदि सभी अङ्गों का समावेश हो—काव्य-कौशल का मूल्याङ्कन कर सकते है। समन्वय के दृष्टिकोण को, जो साहित्य का सम्भवतः सबसे स्वस्थ दृष्टिकोण है, और जिसका अर्थ है अभिन्नत्व में भिन्नत्व आदर्श में यथार्थ और भाव में अभिव्यक्ति—को लेकर ही चलने में हम किसी निर्णय पर पहुँच सकेंगे अन्यथा, अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग तो फिर है ही।

पूज्य 'प्रसाद' जी की मृत्यु अभी कल की सी घटना है। उनके जीवन काल में भी सयत होकर उन्हें समझने की, चेष्टा कुछ लोगों ने नहीं की। और कुछ तो आज भी, व्यापक दृष्टिकोण से उन्हे नहीं देखना चाहते। खेद का विषय तो यह है, कि उनमें से कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो अपने को उनका समकालीन, अथवा सहयोगी

होने का दावा भी करते हैं। साहित्य जगत से, यदि इस प्रकार की धाधली, दूर न की गई—तो वह दिन भी दूर नहीं, जब साधना का यह पावन क्षेत्र भी, राजनीतिक उच्छृङ्खलताओं का अखाड़ा मात्र बन कर रह जायेगा। व्यापकता अथवा सामरस्य के दृष्टिकोण को अपनाने पर, हमें यह बात और स्पष्ट हो जायेगी कि रीतिकालीन-शृङ्गार की इस वेगवती धारा के दोनों कूलों पर सर्वस्व-समर्पण की भावना से भरे हुए-भक्ति व श्रद्धा के वे विशाल बटवृक्ष भी खड़े हुए हैं जिनकी विश्वासमयी शीतल छाया के नीचे बैठकर भय आतप से तापित और जले प्राणी भी कुछ देर के लिए सुख संतोष व धैर्य की प्राप्ति कर सकते है।

सबसे पहले आप बिहारी को ही लीजिए। संपूर्ण सतसई मे अधिकांश शृङ्गार की, एक या दो जयसिंह-प्रशंसा की, रचनाओं को छोड़कर, फिर हमें उनके करुण कातर हृदय की वह पुकार भी सुनाई देगी—जहाँ भक्त अपनी अर्चना के फूलों को, देवता के चरणो पर चढ़ाने के लिए—उद्विग्न हो उठा है। जहाँ, उसने यह अनुभव कर लिया है, कि ससार असार है। चारों ओर माया का वारापार है और जीवन व्यर्थ है बेकार है। यह बात और है कि विश्वनश्वरता का यह अनुभव उपराग के विराग के सदृश होकर, समाप्त हो गया हो। भारतीय साहित्य की अबाध, प्रेम व भक्ति धारा की ओर दृष्टि डालते ही, हमें इस बात का पता चलता है, कि साधना के इस उर्वर क्षेत्र में भी, दो प्रकार के साधक पाये जाते हैं। एक तो वे हैं जो सच्चे अर्थ में महात्मा कहलाने के अधिकारी है, जिन्होंने नश्वर जगत के, समस्त प्रलोभनों को त्याग कर, एक अविनश्वर की ही उपासना करते हुए, साहित्य की सेवा की है। दादू नानक, तुलसी, कबीर, मीरा आदि इसी कोटि के संत साधक हैं। ये संत पहले हैं कवि या साहित्यकार बाद मे। और दूसरे प्रकार के साधक वे है जो, प्रथमतः कवि हैं, और इसी संसार मे, रहकर सांसारिक पदार्थों का, उपभोग करते हुए—साहित्य व ईश्वर की उपासना करते रहते हैं। रसखान, रहीम, देव, बिहारी, सेनापति से लेकर, आधुनिक युग के हरिश्चन्द्र, 'प्रसाद', पंत, महादेवी, माखनलाल आदि दूसरी श्रेणी के साधक हैं। साहित्य सेवा उनका मुख्य लक्ष्य है, ईश्वरोपासना गौण। निराला को हम चाहें तो इन साधकों की पहली श्रेणी में भी रख सकते हैं। इसलिए नहीं, कि उनका प्रमुख लक्ष्य है ईश्वरोपासना, अपितु इसलिए कि उन्होंने नश्वर संसार के, स्वार्थ प्रलोभनों व संबंधों से अपने को बहुत कुछ मुक्त सा कर लिया है। 'जहाँ भी दो तिनके धर दिये वहीं बन गया नीड़ सुकुमार' के सिद्धांत के अनुसार उनका जीवन भी, संत-जीवन के ही अधिक निकट आ जाता है। रही बात, ईश्वरोपासना की, तो उस संबध में, मुझे इतना और कहना है कि साहित्योपासनाभी, अपने सच्चे अर्थ मे, ईश्वरोपासना का ही दूसरा नाम है। एक सच्चा साहित्यक अनिवार्य रूप से ईश्वर के व्यापक रूप का उपासक होगा ही। किन्तु जब ईश्वरोपासना का

अर्थ–केवल मृत्तिका–पिण्ड की पूजा अथवा फिर निरंजन को घट के भीतर खोजने की कोशिश ही न होगी। ईश्वरोपासना का, तब अर्थ होगा–शील, श्रद्धा, त्याग, सत् शिव एव सुन्दर की उपासना। जीवन में जो कुछ उदार एवम उदात्त है उसकी पूजा स्वार्थ हिंसा, अहंकार अास्तेय आदि दुर्गुणों का पूर्ण परित्याग। जीवन में जो कुछ कुरुचिपूर्ण है उसका परिहार।

साहित्य–साधकों के इस व्यापक विभाजन के अनुसार बिहारी व सेनापति ही नहीं, रीतियुग के प्रायः समस्त साहित्यकार साधना की इस कोटि में आ जाते है। साहित्य–अध्ययन की आधुनिक प्रणाली मे पढ़े हुए उच्चतम कक्षा के विद्यार्थी भी आज किसी साहित्यकार के संबध में, अपनी सतुलित व निर्दोष राय नहीं स्थिर कर पाते। आज से कुछ वर्ष पूर्व आलोचना के कुछ उल्टे सीधे, सिद्धान्तो के आधार पर तुलसी व सूर को जिस रूप मे मैंने देखा था आज उसकी याद भी उपहासास्पद अनुभव होती है। समन्वित दृष्टि से देखने पर हमे बिहारी व सेनापति की रचनाओं में भी, भक्त के हृदय की कोमलता, सजलता, हठ एवम् अनुताप दिखाई देते हैं। ऐसी रचनायें सख्या मे कितनी है यह प्रश्न नगण्य है। करुणा की एक बूँद भी कठोरता के अनेक सिंधुओं से विस्तृत एवम् व्यापक है। अमृत का एक बूँद भी, हलाहल के हजार हजार घड़ो से, अधिक मूल्य-वान है। सच्चे अनुताप व पश्चात्ताप से उमड़ा हुआ एक आँसू भी–जन्म जन्मान्तरों के कलुष को धो डालता है। पतितपावन की तो यह प्रतिज्ञा ही है—"अहम् त्वाम सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः। फिर उलझन किस बात की। केवल एक बार उस ओर उन्मुख होने भर की आवश्यकता है।

हाँ, बिहारी की भक्ति भावना को समझने के लिए, हमें इतना और समझना होगा, कि उनके परमप्रिय आराध्य हैं, श्रीकृष्ण। जिनके शीस पर मुकुट है, हाथों मे मुरली व कंठ में वनमाला। जो चक्रवर्ती नरेश दशरथ के पुत्र राम नही वरन् बाबा-नंद के दुलारे है, ब्रजचन्द्र श्रीकृष्ण। जिनके सानिध्य, का आनन्द जिनकी उपासना का मजा सेवक–सेव्य–भाव में नही, सखा व सख्य भावना में है। दूरदर्शी सूर ने भी इस रहस्य को, अच्छी प्रकार समझ लिया था। बिहारी को भी उसे समझने में देर नही लगी। अपनी पाप-पीनता की सफाई कितनी चतुराई के साथ, उस दरबार मे पेश करते हुए वे कहते हैं—

करौं कुवत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल।
दुखी होउगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल॥

जब भगवान ही टेढ़े है, जब उपास्य का ही रंग ढग ऐसा है, तो फिर भक्त का सीधा होना कहाँ तक ठीक है। त्रिभंगी छवि को हृदय में धारण करने वाले भक्त के लिए तो यह 'बाइलोजिकल नेसेसिटी' हुई कि वह भी टेढा बना रहे। नही तो

स्वभावत उसके उपास्य को भी शारीरिक कष्ट होगा। अपने उपास्य पर ही अपना अहसान लादते हुए अपने देढ़ेपन की स्वाभाविकता को प्रमाणित करने का, यह प्रयास विनोद के अनुलेपन से युक्त होने के साथ ही साथ, करुणा, असफलता, निराशा एवम् पश्चाताप से भी भरा हुआ है। यद्यपि ये चारों ही उपरोक्त दोहे में, ऊपर से खोजने में नहीं दिखाई देंगे।

प्रेमी भक्त, व प्रेमास्पद भगवान के बीच रीझ और खीझ के कभी कभी अत्यन्त मनोरम दृश्य भी देख जाते हैं। कभी भक्त मनाता है, तो कभी रूठ जाता है और कभी कभी तो, उसकी दृढ़ता इस हद तक भी पहुँच जाती है कि वह बाजी बद बद कर, हार व जीत के अखाड़े में उतर पड़ता है। कृष्ण के अनन्य प्रेमी सूर ने, भी किसी ऐसे ही प्रसंग पर ताल ठोक कर कह दिया था—

"आजु प्रभु तुम सों होड़ परी।
ना जानौं मैं करिहौं का तुम नागर नवल हरी॥"

होड़ की इस भावना के पीछे भी, भक्त के हृदय की कैसी अगाध करुणा-धारा बह रही है, इसका अनुमान तो वे ही कर सकते हैं— जो स्वप्नावस्था में भी, बर्रा कर राम का नाम लेने वाले व्यक्ति की चरण-पादुकाओं के लिए—अपने शरीर का चमड़ा तक दे देने में कृतज्ञता व आनन्द का अनुभव करते हैं।

होड़ के इस मैदान में, बिहारी भी किसी से पीछे नहीं। बहुतों से तो वे बहुत आगे भी हैं। अपने प्रेमास्पद को प्रेम की ललकार देते हुए वे कहते हैं—

कौन भाँति रहिबी बिरद हे माधवौ मुरारि।
बीधे मोंसौं आइकै, गीधे गीधहि तारि॥

राजस्थानी का, यह शब्द 'रहिबी', पूज्य गोस्वामी जी के 'याइबी' शब्द की याद दिलाये बिना नहीं रहता। ("गैरियो सुधि याइबी कछु करुण कथा चलाइ" 'विनय') बीधे और गीधे शब्दों की व्यंग्यात्मकता भी गौर करने योग्य है। भारत के पूर्वी जिलों में व्यवहृत 'परकजाने' शब्द का जो आशय है, ठीक वही भाव है यहाँ गीध जाने का।

उपासना पद्धतियों की, थोड़ी बहुत विभिन्नता को लेकर भारत में धार्मिक संप्रदायों के जो अखाड़े तैयार हुए, उनकी साधारण धरपकड़ का मजा, कभी कभी आज भी उस समय देखने को मिलता है, जब गङ्गा स्नान को जाते हुए दो भक्तों में से, एक अभिवादन के स्वरों में दूसरे से कहता है, 'राम राम भाई!' तो दूसरा कुछ मुँह बिचकाता हुआ कहेगा, छिः, छिः, किसका नाम ले दिया। जिसने सीता जैसी सती को निरपराध ही, वनों में भटकने की आज्ञा देदी। अरे भाई नाम ही लेना है, तो नाम लो बालगोपाल का। माखन मिसरी खाने वाले कृष्ण कन्हैया का। इस पर पहला भक्त, पुनः नाक भौं सिकोड़ता हुआ उत्तर देगा—हरे! हरे! तुमने भी किस

चौहट्टे का नाम ले दिया, जिसे नाचने गाने के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नही लगता। इसके अतिरिक्त यदि उपासना पद्धतियों की विभिन्नता का कुछ परिचय और प्राप्त करना है तो आपको भक्तों के ललाट पर लगे हुए-चंदन की ओर भी, दृष्टि डालना आवश्यक होगा। कोई आड़ा है तो कोई सीधा, कोई गोल है तो कोई चौकोल। किसी में त्रिपुण्ड बना है तो किसी में त्रिशूल। आशय यह कि जितने मस्तक हैं उतने ही प्रकार के चंदन। समझ मे नहीं आता कि जब हमारा लक्ष्य एक ही है, तो हमारी पद्धतियों मे इतना अन्तर क्यों है। और फिर आपस की इस मैं मैं तू तू का अर्थ क्या है? सच्चे साधक इन झमेलों से कोसों दूर है। उनका तो एक ही सिद्धान्त है, 'कै तोहि लागहि राम प्रिय, कै तू राम प्रिय होय'। बिहारी भी मत मतान्तरों के इस पचड़े से दूर रहने का आदेश देते हुए एक स्थल पर कहते हैं—

अपने अपने मत लगे, वादि मचावति शोर।
ज्यों त्यों, सबको सेइबो एकै नंदकिशोर॥

अपने उपास्य की भक्ति का निरूपण करते हुए, यत्र तत्र बिहारी के दार्शनिक भावों की झलक भी मिल जाती है। किन्तु ऐसे प्रसंग दुर्भाग्य से हैं बहुत ही कम। अपनी दार्शनिक भावना को अभिव्यक्ति करते हुए एक स्थल पर उन्होंने कहा है—

"मैं समुझ्यो निरधार, यह जग कोंपों कॉचसम
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित, लखियत जहाँ।"

नश्वर जगत की क्षण भंगुरता के लिए, पानी का बुदबुदा, बालू की भीत, कच्चे सूत का धागा, एवम् काँच आदि उपमानों का प्रयोग एक युग से कवि परम्परा में होता आ रहा है। और सच पूछा जाय तो, नश्वर जगत के तद्रूप चित्रण के लिए इस से उपयुक्त उपमान और हो ही क्या सकते हैं?

भक्ति रस मे डूबे हुए किसी भी व्यक्ति से सबसे पहले आप जिस वस्तु की आशा करते हैं, वह है उसकी निष्कपट भावना। और फिर यदि वह व्यक्ति कवि है तो आप चाहेंगे उसकी निष्कपट अभिव्यक्ति। सीधी-सादी शैली मे सीधी सादी अभिव्यंजना। कहना न होगा कि भक्तिभावना से ओत प्रोत बिहारी की ये रचनायें भी अस्वाभाविकता के आडम्बर से कोसों दूर हैं। उसकी निष्कपट भावना का यह चित्र कितना स्वाभाविक है।

तौ लगि या मन सदन मे हरि आवैं के बाट।
विकट जटे जौं लगि निपट, खुलत न कपट कपाट॥

संभवतः कबीर ने भी इसी कपट-कपाट के खुलने का संकेत करते हुए दशाब्दियों पूर्व ही एक स्थल पर कह रखा था।

घूँघट के पट खोल री तोहि पीय मिलेंगे, घूँघट के पट खोल॥
घट घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल।

सुख-दुख, हानि-लाभ, यश-अपयश को अपने इष्टदेव पर छोड़कर, 'कर्मण्येवा-धिकारस्ते' को अपने जीवन का मूलमंत्र मानकर, राजी है हम उसी में जिसमें तेरी रजा है, को ही अपना ध्रुव सिद्धान्त समझकर चलने वाले राग विराग जीवन-मरण सबों में समान भाव से बरतने वाले समवर्त्तिनः को गीता में पंडित कहा गया है। प्रकारान्तर से भावना के क्षेत्र में वही भक्त कहे जाते हैं। क्योंकि इष्ट तो दोनों का ही एक है। भव-संभव खेदों का विनाश वे दोनों ही करते हैं। बिहारी के शब्दों में भी उस ब्राह्मी स्वरूप की झाँकी देखते चलिए :—

"दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साँईहि न भूल।
दई दई कत करत है, दई दई सो कबूल॥"

भक्त प्रवर गोस्वामी जी ने भी, 'जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिये' के द्वारा इसी भावना की पुष्टि की थी। 'दई' शब्द के श्लेष ने तो इस दोहे में मणिकाँचन का योग कर दिया है। साधारण बोलचाल में भी हम यही कहा करते हैं—भाई रोग में चिल्लाने से क्या होगा, ईश्वर ने जो दिया है उसी को कबूल करो। "दई दई सो कबूल" मानो इसी सार्वजनिक भावना का पद्यात्मक रूपान्तर हो।

प्रकृति से विनोदी व रसिक होने के कारण, उनकी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में भी उसी मनोविनोद के छींटे यत्र तत्र देखे जा सकते हैं। अपनी ऐसी रचनाओं में, उन्होंने कहीं कहीं तो अपने आराध्य की ऐसी मीठी चुटकियाँ ली है, जिनका प्रभाव पाठकों पर बहुत गहरा पड़ता है। किसी गाँव का विद्यार्थी, जब पहले पहल कभी दो चार दिनों के लिए भी किसी शहर में रहकर वापस लौटता है तो उसमे यत्किंचित, परिवर्तन अथवा परिवर्त्तनाभास भी पाकर उसके ग्रामीण मित्र चटपट यही कह उठते हैं, लगता है, शहर की हवा लग गई है तुम्हें भी। हवा लगने के इस मर्मस्पर्शी मोहावरे का प्रयोग भी बिहारी ने किस चुस्ती से अपनी रचना मे किया है। देखने योग्य है। आराध्य देव की चिरकालीन पराङ्मुखता को देखकर कवि हृदय में जो भावना प्रस्फुटित हुई है उसी के शब्दों में वह यह है :—

कब की टेरत दीन रट, होत न श्याम सहाय। तुमहू लागी, जगत गुरु जगनायक जग बाय।

'जग बाय' के साथ 'जगतगुरू' और 'जगनायक' जैसे सानुप्रासिक व्यंग्य-विनोद-युक्त शब्दों का प्रयोग भी कितना साभिप्राय हुआ है। जो संसार का गुरू है, संसार का स्वामी या विश्व का नेता है उसे यदि ससार की हवा लग गई हो तो आश्चर्य किस बात का। आशय यह कि शृङ्गार के प्रधान कवि होते हुए भी बिहारी की रचनाओं में भक्ति रस की कमी नहीं। भावना के इस शिष्ट एवम् श्रद्धावनत क्षेत्र में भी वह किसी से पिछड़े हुए नहीं वरन बहुतों से तो वे अपनी अभिव्यक्ति की मौलिकता के कारण बहुत आगे भी दिखाई देते हैं। हाँ, इस सम्बन्ध में हमे इतना अवश्य याद रखना चाहिए, कि बिहारी की भक्तिभावना सम्बन्धी रचनाओं में, उनके विनोदी स्वभाव की मीठी चुटकियों का ही बाहुल्य पाया जाता है

सेनापति का प्रकृति-प्रेम

पावस की किसी श्यामल संध्या में, मुक्त नीलाकाश पर, इन्द्र धनुषी छटा का अवलोकन करते हुये, अथवा मानसरोवर जाने वाले हसों का अभिनय करने वाले किशोर मेघ-दूतों का मधुर सगीत सुनते हुए, जब हम सामान्य व्यक्तियों को भी तृप्ति नही होती, एक शृ ग से दूसरे शृ ग पर छलांग भरते हुए निर्झर, चहचहाते हुए पक्षी, ओस से धुले हुए फूल, तमसाकार पर्वतों के बीच के गवाक्ष से झाँकने वाली गुलाबी आभा, मंजरियों से लदे हुये वृक्ष, व तारों से जगमगाता हुआ आकाश, जब थोड़ी देर के लिए हमें भी अपने पास बुला लेता है तो फिर कल्पना के उस कोमल शिशु के संबध मे विस्मय का अवकाश ही कहाँ ? वह तो स्वभाव से ही प्रकृति का पुरोहित होता है न ? क्या प्राचीन और क्या नवीन वाणी के प्रायः समस्त उपासकों ने, प्रकृति के नाना रूपों का थोड़ा बहुत अवलोकन किया ही है। प्रेममार्गी सूफी-शाखा के प्रमुख कलाकार जायसी ने तो विरह-विधुरा प्रकृति के एक एक स्पंदन को अच्छी तरह देखा और उसका अनुभव किया। उसकी शीतल छाया में बैठ कर उन्होने जिस कोमल व सुखद काव्य की सृष्टि की है—वह भारतीय साहित्य मे ही नही—अपितु विश्व की भावधारा में स्थान पाने योग्य है। दो एक स्थलों को छोड़कर व्यापक विरह की, ऐसी बोलती हुई अभिव्यजना, वाणी के इतने स्वाभाविक क्षेत्र में, अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

प्रकृति का यह चित्रण प्रधानतः दो रूपों में अधिक पाया जाता है। एक तो सचेष्ट रूप में, दूसरा निश्चेष्ट रूप मे। सचेष्ट रूप में चित्रित प्रकृति—मानव जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करती हुई उसे कुछ गभीर संदेशादेश भी देती है। निश्चेष्ट रूप में वह केवल अपनी छटा का ही दिग्दर्शन कराकर चुप हो जाती है। प्राचीन हिन्दी काव्य में अधिकांश प्रकृति चित्रण दूसरे रूप में ही हुआ है। यद्यपि आधुनिक कवियों ने इस ओर कुछ ध्यान दिया है और निसदेह उन्हें इस ओर सफलता भी प्राप्त हुई है। इस क्षेत्र मे प्रसाद, पत, निराला एवम् महादेवी आदि साधकों के प्रयास निश्चित ही प्रशसनीय हैं। असीम व ससीम के बीच मध्यस्थ के रूप मे मंगल और श्रेय से मंडित, प्रकृति के जैसे भावात्मक चित्र इन छायावादी कवियों ने खीचे हैं, वैसे अन्यत्र दुर्लभ है।

जिस प्रकार शृङ्गार के क्षेत्र में एकान्तिक प्रेम के चित्रण को ही अधिक प्रश्रय मिला है—लौकिक को कम उसी प्रकार प्रकृति के भी निश्चेष्ट रूप पर, हम अधिक मुग्ध हुए हैं विशेष रूप से या तो उसका चित्रण—राजकुमारों के वन विहार

राजकुमारियों के पुष्पचयन की वाटिकाओं, अथवा थोड़ा बहुत महर्षियों की तपोभूमि के रूप में ही होता रहा है। इन विहार-वाटिकाओं व रंगस्थलियों मे साधारण रूप से तो साधारण व्यक्तियों का प्रवेश वर्जित ही रहा है, यद्यपि इस सामान्य नियम के अपवादों को लेकर, यत्र तत्र बड़े ही मधुर उपाख्यानों की रचनायें भी की गई हैं। महर्षियों की तपोभूमि के रूप में चित्रित प्रकृति का यह क्षेत्र व रूप, अवश्य ही अपेक्षाकृत अधिक सार्वजनिक रहा है। साधारण मानव जीवन के साथ उसका संबंध कुछ अधिक निकट का, संवेदनाशील व उदार सिद्ध हुआ है।

संतोष का विषय है कि रीति-परम्परा के विश्रुत कलाकार सेनापति ने भी, यत्र तत्र विशेष अनुराग व तल्लीनता के साथ प्रकृति के उसी व्यापक रूप का ही चित्रण किया है जिसका संबंध हम सामान्यों के जीवन व हमारी भावना से अधिक निकट का है। जिसे हम दूर से झिझकते हुए देखने के लिए मजबूर नहीं, प्रत्युत जिसकी पवित्र गोद में अपना शीस रख कर, उसके कोमल स्पर्श का मनचाहा आनंद लेने के लिए स्वतन्त्र हैं। जो पाश्चात्य सभ्यता मे पली हुई तितली के रूप में नहीं, भारतीय संस्कृति में पनपी हुई गृह-देवी के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

प्रकृति के इस मानवीयकरण के ही कारण, सेनापति अपने अन्य साथियों से, कुछ दूर एक अलग कतार में खड़े दिखाई देते हैं। और यह दूरी उनके लिए श्रेयस्कर भी सिद्ध हुई। प्राकृतिक वस्तुओं की यथा—पुष्प, लता, निर्झर, चन्द्र, मेघ आदि की एक लम्बी लिस्ट बना कर, अपने को प्रकृति-पुरोहित कहलाने का दावा उन्होंने कभी नहीं किया। यह उनके प्रकृति चित्रण की एक बड़ी विशेषता है। केशव, पद्माकर, एवम् देव में, यदि एक ओर नाम गिनाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, तो विहारी का प्रकृति वर्णन लगता है, अलंकारिक सौष्ठव के प्रदर्शनार्थ ही किया गया है। उनका प्रकृति वर्णन श्रृंगार के उद्दीपन की ओर ही अधिक उन्मुख दिखाई देता है। किन्तु सेनापति का समस्त प्रकृति चित्रण संश्लिष्ट है। अपनी भावानुसारिणी भाषा के सहारे वह हमें प्रकृति का कोमल बिम्ब ग्रहण कराते चलते है। यद्यपि "रीति" की संकुचित परम्परा में पढ़कर यत्र-तत्र उन्होंने भी प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता को सीमिति कर दिया है। तो भी उनकी निजी अभिव्यक्ति की शैली से मण्डित होकर जो भी भावचित्र उनकी कुशल-तूलिका से अंकित हुये उनमे सौंदर्य व स्वभाविकता की कमी नहीं। तप्त लू से संतप्त किसी 'दीरघ-दाघ-निदाघ' का वर्णन करते हुये वे एक स्थल पर कहते हैं :—

"तपति धरनि जग जरति झरनि सीरी,
छांह को पकरि पंथी पन्थी विरमत हैं।
मेरी जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कौनो,
घरी एक बैठि कहूँ घामै वितवत है"

जेठ मास की सांय सांय करती हुई दुपहरी के उस भयावह सन्नाटे की तनिक कल्पना कीजिए— जब सूर्य अपनी शतसहस्र आग्नेय किरणों से तप्त अग्नि-स्फूलिंगों की वर्षा करने में व्यस्त होता है। सारा संसार दुबक कर किसी शीतल कोने में सिमट जाता है। शीतल जल का एक घूंट अमृत के एक घट से अधिक सुखद अनुभव होता है। पुलक-पखी-वैतालिक अपने नीड़ों से निकलने का नाम नहीं लेते। ऊष्मा के उन दमघोट क्षणों मे पवन की स्तब्धता के संबंध में कवि की यह उत्प्रेक्षा कितनी स्वाभाविक बन पड़ी है। और उस समय पवन भी यदि कठिन गरमी से सन्तप्त होकर घरी भर के लिये किसी वृक्ष की शीतल छाया के नीचे बैठ गया हो तो आश्चर्य की क्या बात है।

यह तो रहा ग्रीष्म अब सिसयाते हुये शीत का भी थोड़ा सा साक्षात्कार कीजिए। जिसके कारण सुदामा की पत्नी ने सुदामा जैसे स्वाभिमानी ब्राह्मण को भी ठेल ठेल कर द्वारिका तक जाने के लिये वाध्य ही कर दिया था। सेनापति की इस शीतकालीन रचना का सम्बन्ध, ग्रीष्म मे शिमला और नैनीताल एवम् शीत में बिजली की भट्टियों या हीटरों का सुख लेने वाले धन-कुबेरों से नहीं है। इसका सम्बन्ध तो भारत के उन करोड़ों दीन हीन असहाय प्राणियों से है, जिनके पास पेट भरने के लिए न तो पर्याप्त भोजन है और न तन ढकने के लिये यथेष्ट लत्ते। जो जाड़े की इन लम्बी ठिठुरती रातों को "जानु भानु कृशानुभि:" के सहारे व्यतीत करने के लिये वाध्य हैं। उनकी करुणा का यह स्वरूप भी कितना कोमल है। देखिये न!

धूम नैन बहैं, लोग आग पै गिरे रहै,
हिय सों लगाय रहे नेकु सुलगाय कैं।
मानों भीत जानि महा सीत तैं पसारि पानि,
छतिया की छाँह राखो पावक छिपाय कैं॥

अप्रस्तुत योजना के लिये विशेष रूप से तीन ही अलङ्कारों का उपयोग कवि-परम्परा में एक लम्बे अरसे से होता आया है। उपमा, रूपक, एवं उत्प्रेक्षा। थोड़े से हेर फेर के साथ ये तीनों ही एक दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं। उपमा में यदि सादृश्य-भावना को विशेष महत्व दिया जाता है, तो उत्प्रेक्षा मे प्रभाव-साम्य को। रूपक में इन दोनों को ही पूर्ण महत्व दिया जाता है। उत्प्रेक्षा की विशेषता यह है कि इसमें भेद जानते हुये भी कवि को उपमेय मे उपमान की सम्भावना करनी पड़ती है। मनु, जनु, मानों, जानों, किधौं आदि वाचक शब्दों के सहारे कवि अपने अभीष्ट की पूर्ति करता है। कवि के मुख से मनु, जनु, जैसे उत्प्रेक्षा द्योतक शब्दों को सुनते ही पाठक थोड़ा सा सतर्क हो जाता है। और ध्यान से सुनने लगता है कि कवि क्या कह रहा है। और उसे किस ओर लिये जा रहा है। श्लेष आदि अलङ्कारों में खींच तान का भी यथेष्ट अवसर बना रहता है उदाहरण के लिए बिहारी

"अजहूँ तर्‌यौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अङ्ग" में 'तर्‌यौना' शब्द को किस तरह खींच तान कर श्लेष बना दिया गया है। इस पर विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं! इसी प्रकार स्वर्गीय रत्नाकर जी के 'बैहरि बनाम लै उसास अधिकाने में' 'बैहरि' शब्द को भी खींच तान कर श्लेष बनाने की कोशिश की जाती है। और उसे एक ओर 'पवन' तो दूसरी ओर 'बिना हरि' का द्योतक बनाया जाता है उत्प्रेक्षा में इस प्रकार की खींच तान की गुंजायश नहीं रहती। सच्चे हृदय से निकली हुई सीधी सादी अभिव्यञ्जना का ही यहाँ मान है। इस सम्बन्ध में मुझे मानस प्रणेता का एक दोहा बार बार याद आ जाता है। चौदह वर्ष के उपरान्त अनन्त, शील, शक्ति एवं सौन्दर्य के धाम श्रीराम भाव व भक्ति के प्रतीक श्री भरत जी से भेंट कर रहे हैं। इस अवसर पर कवि ने कितनी सजीव उत्प्रेक्षा की सृष्टि की है।

प्रभु मिले अनुजहि सोह मोपँह जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु शृङ्गार तनु धरि मिले वर सुषुमा लही॥

शृङ्गार का स्थायी भाव है प्रेम। और भाई भरत प्रेम के प्रतीक नहीं वरन् स्वयमेव ही साकार प्रेम है। यह भरत का प्रेम ही है, कि जब सारा संसार राम राम जपता है तो राम भरत के नाम का माला फेरते हैं। श्रीराम तो अनन्त सौन्दर्य अथवा शृङ्गार के आश्रय हैं ही। उनके सौन्दर्य की सीमा नहीं। करोड़ों कामदेवों के अप्रेमय सौन्दर्य को भी लज्जित कर देने वाले राम के सौन्दर्य की सीमा हो भी कैसे सकती है। अब चूँकि स्थायी भाव ही किसी रस का प्राण होता है। अतएव शृङ्गार और प्रेम की उत्प्रेक्षा द्वारा अग्रज राम और अनुज भरत की भेंट का यह चित्र कितना सजीव, कितना कोमल और कितना मौलिक है। स्वाभाविक उत्प्रेक्षा के इस महत्व से सेनापति भी परिचित से दिखाई देते हैं। पूस और माह के वज्र-विद्रावक जाड़ों में आग जलाकर अलाव तापते हुए साधारण स्तर के लोगों को तो आपने देखा ही होगा। ठिठुरती हुई जाड़े की उन लम्बी रातों में वे दीन हीन प्राणी—लगता है अलाव की उस आग को अपने प्राणों मे भर लेना चाहते हैं। उस दृश्य को एक बार देख लेने के बाद सेनापति की इस उत्प्रेक्षा का—'कि मानों शीत के भय से भयभीत जानकर लोगों ने अलाव की उस अग्नि को अपने प्राणों की परम कोमल व सम्वेदनशील छाया मे छिपा कर रख लिया हो' का रहस्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

क्या उपन्यासकार क्या नाटककार और क्या कवि किसी भी लेखनी के धनी को तब तक पूरी सफलता नहीं मिलती जब तक वह विभिन्न परिस्थियों में अपने को डाल कर उनका स्वानुभूतिपूर्ण चित्रण करने का प्रयास नहीं करता। सेनापति का प्रकृति वर्णन यद्यपि प्रधानतः ऋतु वर्णन के ही रूप में पाया जाता है। और उसका कारण भी 'बारह मासे' के वर्णन की सम्भवतः वह परम्परा है जिसका निर्वाह जायसी ने पूरी सफलता से किया है। जो हो सेनापति ने अपने प्रकृति चित्रण में एकदेशीय शुष्कता,

का समावेश नहीं होने दिया है। उसमें उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों, विभिन्न दृश्यों व विभिन्न समयों का अलग अलग रंग भरा है। क्वार, कातिक के गुलाबी जाड़े का वर्णन करते हुये एक स्थल पर उन्होंने कहा है।

कातिक की गति थोरी थोरी थोरी सियराति,
सेनापतिंह सुहाति सुखी जीवन' के गन हैं।
फूले है कुमुद फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं॥
उदित विमल चन्द चन्दानी छिटक रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो, सेत है वरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है॥

शरद पूर्णिमा के बाद की वे सम शीतल रातें हलके गुलाबी जाड़े की सौगात देकर, जब चलने लगती हैं, तो हमें कितना कष्ट होता है। गरीबों के लिए तो वे 'बिछुरत एक प्राण हरि लेही' की ही समस्या खड़ी कर देती हैं। गर्मियों में तो उन बेचारों के पास पेट भरने की ही समस्या होती है। किन्तु जाड़ों में तो वस्त्र की भी समस्या उनके सामने आ खड़ी होती है। क्वार और कातिक के हलके गुलाबी शीत में उन्हे भी विशेष कष्ट नहीं होता। इसके बाद तो फिर उन्हे जिस कष्ट का सामना पड़ता है वह उन्हीं के अनुभव की वस्तु है। क्वार और कातिक की उन समशीतल रातों के प्रति जिनमें निर्धन और धनवान सभी एक से प्रसन्न रहते हैं, सेनापति अपनी भाव भरी श्रद्धाञ्जली अर्पित करने में कैसे चूक सकते थे। धरती और आकाश पर समान रूप से छिटकी हुई चाँदनी में 'आप्रायावा' फैली हुई राम के यश-कीर्ति की कल्पना भी कितनी स्वाभाविक बन पड़ी है। 'थोरी थोरी सियरात' में चित्रोपमता का गुण तो मानों कूट कूट कर भर दिया गया हो। इस शीत कालीन अभिव्यञ्जना के बाद अब 'कहुँ कहुँ वृष्टि शारदी थोरी' की भी एक झलक देखते चलिए। शार्दीय-वृष्टि का विवेचन करते हुए सेनापति कहते हैं:—

'सलिल सहल मानों सुधा के महल,
नभ तूल के पहल किधौ पवन अधार के।
पूरव को भाजत हैं, रजत से राजत है,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥

सुधा के महल व तूटम के पहल की भाँति आकाश पर विचरण करते हुए शरद के ये किशोर मेघ खण्ड अपनी धीरे गम्भीर ध्वनि में कौन सा रहस्य छिपाए है इसकी अधिक संयत् विवेचना तो "दमयन्ती सी कुमुद कला के रजत करों में फिर फिर अभिराम" की कोमल कल्पना करने वाला कवि ही कर सकता है। मै तो इतना ही कह सकूँगा कि यह दृश्य भी अत्याधिक व नैनाभिराम होता है

फूले हुए पलाश वन खण्ड की शोभा पर भी कवि-परम्परा एक युग से कुछ न कुछ कहती सुनती चली आयी है'। प्रेमगाथाकार जायसी ने तो उसे प्रभू के विरह में धधकते हुए अग्नि स्फुलिंगों के रूप में देखा है। सेनापति की आँखों से हम उसे इस प्रकार देख सकते है।

"लाल टेसू फूलि रहे हैं विशाल संग,
श्याम रंग भेंटि मानो मसि में मिलाये हैं।
आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे मानो,
विरही दहन काम क्वैला परचाये हैं॥"

पलाश व पुष्पों का अधोभाग श्याम होता है, उर्ध्व अरुण इसे सभी जानते है। लालिमा–कालिमा के इस काव्यात्मक संधिस्थल की अभिव्यक्ति कवि ने किस मार्मिकता के साथ की है उसका कहना है कि मानों कामदेव विरही को विदग्ध करने के लिए कोयले की आग सुलगा रहा हो। अभी यह आग पूरी तरह से प्रज्ज्वलित नहीं हुई है। इसीलिए पलाश के फूल कवि को अधजले कोयले के रूप में ही दिखाई पड़ रहे हैं।

पिंगल शास्त्र वनायिका भेद की बंधी हुई परिपाटी पर आँख मूँद कर चलने वाले रीति युग के अनेक कवियों के बीच स्वतन्त्र उद्भावना के पोषक कविवर सेनापति को पाकर हमें प्रसन्नता होनी ही चाहिए। यद्यपि उनका अधिकांश प्रकृति वर्णन ऋतु वर्णन के रूप में ही पाया जाता है। यत्र तत्र उन्होंने राजकीय वैभव विलास का चित्रण भी किया है। तो भी उनके प्रकृति चित्रण में व्यापकता का गुण कूट कूट कर भरा है। मानवीयकरण का जिसका अभाव प्रायः उनके सभी समसामयिक कवियों में खटकता है प्रभाव उनके प्रकृति चित्रण पर भरपूर पड़ा है। कवि यदि एक ओर युग से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर वह स्वयं भी युग–निर्माता है। सेनापति के प्रकृति चित्रण के पर्यवेक्षण के उपरान्त हमें साहित्य के इसी सार्वभौम सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ता है।

छायावाद और उसका स्वरूप

(एक स्वप्न)

"अँग्रेजी में मिस्टीसिज्म का अर्थ छायावाद और रहस्यवाद दोनों से ही लगाया जाता है। हिन्दी में भी मिस्टिसिज्म और सिम्बोलिज़्म के प्रभेद को दृष्टिगत न रखकर रहस्यवाद और छायावाद का प्रायः समान अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है प्रस्तुत लेख में भी सुविधा के लिये छायावाद और रहस्यवाद को एक मानकर ही विभिन्न विचारकों के मतों का सार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है"। (लेखक)

नागरिणी प्रचारणी सभा की ओर से आयोजित काशी की एक विशाल साहित्यक गोष्ठी में अपने को उपस्थित देखकर पहले तो मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। जिस ओर मेरी दृष्टि जाती उसी ओर कोई न कोई युग-प्रवर्तक अथवा युगाधार साहित्यकार ही दीख पड़ता। सम्पादक, आलोचक, कवि एवं प्रतिष्ठित कथाकारों से रंग मंच दबा जा रहा था। आशय यह है कि शायद ही हिन्दी का कोई कवि या आलोचक बचा हो जो उस आयोजन मे उपस्थित न हो। बड़ी झिझक के साथ मैं भी एक कोने में दुबक कर बैठने ही की ताक में था कि रंग मंच के पास से प्रेमोपालम्भ भरे शब्दों में किसी ने जोर से आवाज दी "अब एक कोने में बैठने से काम नही चलेगा आज के साहित्य का सारा भार तो तुम ही नवयुवकों के कंधों पर है, हमारा क्या हमें तो जो कुछ करना था कर चुके" और उसके बाद उन्होंने मुझे अपने पास बैठने का संकेत किया उनके शब्दों की दृढ़ता ने मुझे आत्म-विश्वास व स्फूर्ति की प्रेरणा तो दी ही, साथ ही उनकी भूरी भूरी आँखों के सम्मोहन का भी कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि बिना कुछ सोच विचार किये मैं अपने आप आप उनके समीप ही जाकर बैठ गया। बहुत ही नपे तुले शब्दों में उन्होंने मुझे यह भी बताया कि आज के इस आयोजन का मुख्य विषय है "छायावाद और उसका स्वरूप"। 'निराला' जी की बात समाप्त ही हुई थी कि सभापति के पद से वयोवृद्ध साहित्यकार श्री हरिऔध जी ने अपनी दाढ़ी के बिखरे हुये बालों को सँवारते हुये खाँसी के एक हल्के झटके के बीच कहना आरम्भ किया "प्रिय सज्जनों आज के इस आयोजन की कार्यवाही का श्रीगणेश होने जा रहा है। और सबसे पहिले छायावाद के प्रवर्त्तक बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' आपके समक्ष आज के विषय पर अपना मन्तव्य प्रकट करेंगे। किन्तु मांसल शरीर व विशाल मस्तक पर पड़े हुये स्वाभाविक त्रिपुण्ड की शिव स्वरूपणी सतोगुणी कान्ति के मध्य मुसकराते हुए अत्यन्त विनम्र भाव से उन्होंने उत्तर दिया "नहीं नहीं पहिले अन्य वयोवृद्ध एवं अनुभवी साहित्यकारों को अपने विचार प्रकट करने दीजिये भारतीय शिष्टता का गौरव भी इसी में है प्रसाद'

जी के इस प्रस्ताव का समर्थन करने वालों में श्री शुक्ल जी सबसे आगे थे। भारतीय शिष्टता का नाम सुनते ही क्षण भर के लिये एक अनिर्वचनीय आत्म-गौरव व आर्यत्व का अनुभव करते हुये आपने कहा, "प्रसाद जी की यह सम्मति सर्वथा श्लाघ्य है मैं उसका समर्थन ही नही प्रत्युत हृदय से उसकी सराहना भी करता हूँ।" मेरी तो राय है कि सबसे पहले भाई भगवानदीन जी 'दीन' आज के निर्धारित विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। शुक्ल जी की इस राय से प्रायः सभी सहमत थे अस्तु सभापति महोदय ने सबसे पहले 'दीन' जी का ही नाम पुकारा। बन्द गले के कोट में शीश पर एक गोल टोपी दिये हुये एक दुबला पतला आदमी हलकी सी करतल-ध्वनि के साथ सामने आता हुआ दिखाई दिया। उनके उठते ही नवयुवक मण्डली में कुछ काना-फूसी सी होने लगी और एक सज्जन ने तो दबी जबान में यहाँ तक कह दिया "अब ली इस बूढ़े ने छायावादियों की खबर" और उस दिन सचमुच रंग मञ्च पर आकर श्री दीन जी ने छायावाद और छायावादियों की जैसी खबर ली उसे कठिनता से भुलाया जा सकता है। मंच पर आते ही आपने इस प्रकार आरम्भ किया "मैं तो इन प्रमादवादियों के आयोजन में आने की इच्छा ही नही रखता था लेकिन अभिन्न मित्र श्री शुक्ल जी मुझे जबरदस्ती यहाँ तक घसीट लाये। यह कहते हुए उनकी भौंहों में बल भी पड़ गये और फिर वे बोले, मैंने तो इन नये कवियों के सामने कविता करना भी छोड़ दिया है। कुछ समझ मे ही नही आता, जिस किसी कवि को देखो वही कल्पना के पर लगाकर आकाश में उड़ने का प्रयास कर रहा है। जिसे देखो उसी के घावों से पानी बह रहा है। न रस है, न छन्द है, न अलंकार, सभी अपना अपना राग अलाप रहे है। और तिस पर मजा ये कि यदि पूछो भाई ये कौन सी कविता है तो बड़ी शान से उत्तर देंगे यह छायावादी कविता है। समझ में नहीं आता कि कविता में इन वाद-विवादों का क्या प्रयोजन? इसके बाद श्री शुक्ल जी व हरिऔध जी की ओर एक गम्भीर सांकेतिक दृष्टि डालकर वाणी के अत्यन्त ऊँचे व ओजस्वी स्तर से उन्होंने कहना आरम्भ किया "दूसरों की तो मै नहीं जानता किन्तु मैं तो इसे अन्धकारवाद या अस्पष्टवाद के अतिरिक्त और कुछ भी मानने को प्रस्तुत नहीं।" इतना कहकर श्री 'दीन' जी अपने स्थान पर जा बैठे।

इसके बाद श्री शुक्ल जी का नाम पुकारा गया और जहाँ तक मुझे याद है अंग्रेजी पोशाक में एक स्थूल शरीर के व्यक्ति ने अत्यन्त गम्भीर-भाव-मुद्रा के साथ परम स्वाभाविक शैली मे इस प्रकार कहना आरम्भ किया "इस जगमगाती हुई विद्वन् मण्डली के बीच मेरा कर्त्तव्य तो अपने दोनों कान खुले रखना था, न कि मुख खोलना। फिर भी यदि आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो मैं उसका पालन करने के लिये सहर्ष प्रस्तुत हूँ। छायावाद के सम्बन्ध में मेरा अपना ऐसा विचार है कि । व लाक्षणिकता के साथ सौंदर्यमय प्रतीक विधान

का आश्रय लेकर लिखी गई रचना का नाम है 'छायावाद'। उसे प्रतीकवाद भी एक अर्थ में कहा जा सकता है। करुणा व कोमलता तो इस प्रकार की रचनाओं की अपनी प्रमुख विशेषता है। अरब, फारस, योरुप व बंगाल आदि देशों की यात्रा करता हुआ अब यह परिव्राजक हिन्दी में छायावाद के नाम से एक नई चेतना को जन्म दे रहा है। वैसे तो साहित्य के शांति निकेतन मे विवादों का प्रादुर्भाव ही अवांछनीय है किन्तु इसे तो भविष्य ही बता सकेगा कि प्राकृतिक कोमलता का यह जागरूक पवित्र उपासक "छायावादी" हिन्दी काव्य धारा को कितनी प्रौढ़ता प्रदान कर सकेगा" इसके बाद वे उठने को हुये, किन्तु जैसे उन्हे कोई भूली बात फिर याद आ गई और वे बोले "हाँ अन्त मे कविता की इस नई धारा के उपासकों से चलते चलते मैं इतना तो निवेदन कर ही देना चाहता हूँ कि अपने प्रकृति-प्रेम के चित्रण में वे थोड़ा सावधानी से काम लें। हमारा हृदय वेदना निराशा, पीड़ा, और अंधकार से व्याप्त अवश्य है। क्योंकि कविता स्वतः वियोग और वेदना की गोद में पल कर बड़ी होती है। संसार मे भी दुख एवं निराशा का अभाव नहीं है किन्तु व्यापक समवेदना व प्रकृति के मानवीय करुण का यह अर्थ कदापि नहीं कि अन्धकार से भरे हुये हृदय में रहने के लिये उल्लुओं तक को आमंत्रित कर दिया जाये।

शुक्ल जी के इस जोरदार भाषण के उपरान्त कुछ क्षणों के लिये एक खामोशी सी छा गई। लोगबाग, विशेषतः कविगण एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगे। सम्भवतः वह इस खोज में थे कि अन्धकार से भरे हुये हृदय में उल्लुओं का निमंत्रण देने वाले सज्जन कौन हो सकते हैं। ताका झाँकी की यह क्रिया अभी जारी हो थी कि 'प्रसाद' जी का नाम पुकारा गया। पहिले तो उन्होंने बड़ी टालमटोल की किन्तु लोगों के विशेष आग्रह के सामने उन्हे कुछ कहने के लिये बाध्य ही होना पड़ा। और तब अत्यन्त शान्त-संयत मुद्रा में खड़े होकर उन्होंने कहना शुरू किया "रहस्यवाद और छायावाद को लेकर आज हिन्दी में बहुत से वाद-विवाद उठ खड़े हुये हैं। कुछ लोगों की तो यह धारणा है कि जो कुछ अस्पष्ट है, समझ में न आने वाला है, वही छायावाद है। दूसरों का विचार है कि अनुभूति व अभिव्यक्ति की भगिमा ही छायावाद है, और जिसके लिए वह अपने कुछ विशेष प्रकार के गढ़े हुए लाक्षणिक शब्दों का भी व्यवहार करता है। एक तीसरी शका जो छायावाद के सम्बन्ध मे उठाई जाती है, वह यह है कि छायावाद भारत के बाहर की वस्तु है। छायावाद के संबध में ये तीनों विचार ही भ्रामक है। छायावाद न तो प्रतिक्रियावाद है और न प्रतिबिम्बवाद। हम उसे कोरा-प्रकृतिवाद भी नहीं कह सकते। उसे अभारतीय बताना तो ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार वेदों को सुमेरियन डाकमेन्ट सिद्ध करने का प्रयास। सच पूछा जाय तो अन्तर स्पर्शी करने वाली स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति का ही नाम है छायावाद मोती के

भीतर छाया की जैसी तरलता होती है कवि की वाणी में भी यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जाभूषण की तरह होती है। इस दुर्लभ छाया का संस्कृति-काव्योत्कर्ष काल में तो बहुत अधिक महत्व था। अन्तरस्पर्शी छाया के साथ शब्द-भंगिमा के अनेक उदाहरण संस्कृति साहित्य से दिये जा सकते हैं। मेघदूत का जनपदवधू लोचनैः पीयमानः अथवा कामदेव के कुसुमशर के लिये विश्वसनीयमायुधम् आदि उसी औपचारिक वक्रता के प्रमाण हैं। अपने मूलरूप में छायावाद एकान्तरिक अनुभूति है जो सर्वदेशीय और सर्वकालीन है। रही उसके भविष्य की बात तो उसके सम्बन्ध में इतना ही कह सकूँगा कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'।

'प्रसाद' जी के उपरांत, यशपाल के नाम से एक अत्यन्त कृशगात व्यक्ति बोलने के लिए, मंच पर उपस्थित हुए। उनके आते ही मुझे एक सज्जन ने बताया, कि ये लखनऊ से पधारे हुए प्रगतिशील साहित्यकार श्री यशपाल हैं। वैसे तो ईमानदारी से, अपने कर्तव्य का पालन करते हुए आगे बढ़ने वाला कोई भी कवि या लेखक ही प्रगतिशील हो सकता है और है भी, किन्तु उपरोक्त महोदय के नाम के पहले विशेष रूप से 'प्रगतिशील' का विशेषण जोड़ देने का अर्थ क्या हो सकता है? अपनी इस शंका के समाधान की खोज में मैं इतना अधिक व्यस्त हो गया कि अक्षरशः तो नहीं याद कि प्रगतिशील साहित्यकार श्री यशपाल ने उस समय क्या कहा। किन्तु जो कुछ उन्होंने कहा उसका आशय कुछ इस प्रकार था, "साहित्य-समाज का दर्पण है, अस्तु जिस साहित्य में समाज का हाहाकार नहीं सुनाई देता, वह साहित्य नहीं है। भूख की भयंकर ज्वाला में तड़पते हुये, शिशुओं का क्रन्दन, दो-दो दानें के लिये मुहताज मानव की आँखों के आँसू एवं जन्म के पहले ही मृत्यु-मुख के ग्रास बनकर आने वाले जीवन के करुण व्यंगों की ओर आँख बन्द कर चलने वाले साहित्यकार महान दायित्व के इस उच्च पद के अधिकारी ही नहीं हो सकते। जीवन और जगत की वास्तविकता से तटस्थ रहने वाला कोई भी वाद हो, मैं तो उसे, पलायनवाद ही कहूँगा, और ऐसे कवि या लेखक को स्त्रैण, बस।

इस समय रात्रि भी काफी जा चुकी थी, और श्री यशपाल के भाषण के उपरांत, उपस्थितजन-वर्ग में स्त्रैणता न सही, तो स्फूर्तिहीनता के लक्षण स्पष्ट हो चले थे। अतएव सभी की नाड़ी पहचानने वाले सभापति महोदय ने तत्काल ही यह घोषणा की, " प्रिय मित्रो! अब आपके समक्ष डा० नगेन्द्र अपने विचार प्रकट करेंगे, और हमारी आज की सभा का कार्यक्रम भी उन्हीं के भाषण से ही समाप्त होगा।" सभापति महोदय की इस घोषणा का सबों ने हृदय से स्वागत किया और एक मुहूर्त में ही बिना किसी सकोच-भाव के रेशमी कुर्ता व धोती पहने हुये, लम्बे लम्बे केशों में, गंदुमी रंग के एक महोदय मंच पर आ उपस्थित हुये। जेब से रूमाल निकाल कर और फिर उसे बड़ी शालीनता के साथ एक बार अपने सम्पूर्ण मुख मण्डल पर घुमाते

हुये आपने कहा, "वस्तुतः आज की सभा का कार्यक्रम तो आदरणीय जयशंकर 'प्रसाद' के भाषण के उपरान्त ही समाप्त हो चुका था, किन्तु भाई यशपाल के कथन से छायावाद के सम्बन्ध में एक नई भ्रांति सी उठती दीख पड़ती है। वह यही कि छायावाद तो केवल युग-चेतना से आँख चुरानेवाली पलायनवादी भावुकता है, जिसका महत्व आज के युग में न कुछ के ही बराबर में है। तो इस सम्बन्ध में विश्वास पूर्वक मुझे आपके समक्ष यही निवेदन करना है कि छायावाद युग-चेतना से बहिर्मुख नहीं, अपितु आज के युग की ही पुकार है, स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया का ही प्रतिफल है छायावाद। अधिक स्पष्ट रूप से हम इसे यों कह सकते है कि द्विवेदी-युग मे भाषा तो पाणिन के सूत्रों की भांति व्याकरण के नियमों मे जकड़ दी गई, किन्तु भाव बेचारा अपनी अभिव्यक्ति के लिये ज्यों का त्यो छटपटाता रह गया। आज का छायावाद, उसी छटपटाते हुये भाव की भाषा के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया है। अस्तु मैं तो उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म की, भाषा के प्रति भाव की और जड़वाद के प्रति अध्यात्म की एक प्रबल प्रतिक्रिया के रूप में मानता हूँ। रहा प्रश्न यह कि आज की दुखदग्ध-मानवता के आँसू पोंछने में वह कहाँ तक सहायक है। इस ओर तो मुझे इतना ही कहना है कि विघटनात्मक या विस्फोटक क्रान्ति पर उसका विश्वास नही है। बड़े-बड़े नारे लगा कर जनता-जनार्दन की सेवा का मार्ग भी उसे इष्ट नहीं है। जीवन का सच्चा स्वरूप तूफान नही लहर है। जीवन के इस चिरन्तन सत्य से भी छायावाद परिचित है। हाँ! सेवा जनता-जनार्दन की सेवा, विश्व-मानव की सेवा, शोषित व भू-लुंठित संस्कृति की सेवा तो उसका लक्ष्य है ही, किन्तु उसका मार्ग उग्र नही विनम्र है। "जगती के उर्वर आँगन में, बरसो हे! ज्योतिर्मय जीवन," अथवा, "जगती का करे उजाला, मेरी कल्याणी ज्वाला" के गीत गाने वाले, विश्व-मानवता के पुजारी छायावादी कवि का भविष्य भी निश्चय ही उज्वल है। 'पंत, प्रसाद', 'निराला' व महादेवी जैसे साहित्यकार भारत की ही नही, अपितु विश्व साहित्य की अमूल्य थाती हैं।"

डा० नगेन्द्र के अंतिम शब्दों के साथ ही, अनायास मेरे मुख से निकल पड़ा 'बहुत ही सुन्दर' डाक्टर साहब, ब—हुत......ही...सु...न्दर। मेरा अंतिम शब्द समाप्त ही हुआ था कि बड़े भाई साहब ने, झकझोरते हुये कहा—क्या सोते समय भी किसी कविगोष्ठी का आनन्द लिया जा रहा है। अरे भले आदमी उठकर भी तो देखो, कितनी धूप चढ़ आई है। और सचमुच ही आँखें, मिचमिचाता हुआ जब मै उठा तो मैंने देखा कि मेरे अन्तः प्रकोष्ठ मे, भगवान भास्कर की किरणें स्वच्छन्दता के साथ खेल रही हैं, और आकाशवाणी के, दिल्ली केन्द्र से श्री देवकीनन्दन पाण्डेय हिन्दी में समाचार सुनाने लगे हैं।

'प्रसाद' जी और उनका व्यक्तित्व

आचार्य शुक्ल जी के व्यक्तित्व के संबध में, श्री विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र का विचार है, कि 'वे बाहर से कड़े, किन्तु भीतर से स्वाद से भरे थे । आचार्य शुक्ल को यद्यपि एक कवि का स्वरूप भी प्राप्त हुआ था । किन्तु प्रमुखतः तो वे एक क्रांतिदर्शी आलोचक ही थे । अतएव मिश्र जी का उपरोक्त कथन युक्त संगत ही प्रतीत होता है । 'प्रसाद' जी की प्रतिभा यद्यपि बहुमुखी थी । वे एक कुशल नाटककार सफल उपन्यासकार, व मननशील इतिहासवेत्ता सभी कुछ थे, तो भी उनके समूचे व्यक्तित्व का निर्माण काव्य के कोमल उपकरणों द्वारा ही हुआ था। यही कारण है कि वे ऊपर व भीतर दोनों से ही स्वाद से भरे थे।

भारतेन्दु-युग की जिन्दादिली के वे संभवतः सबसे अन्तिम किन्तु सबसे स्वस्थ अवशेष थे। एक बार भी जो उनसे परिचित हुआ, वह सदैव के लिए उनका मित्र बन गया। अपरिचित से भी वे चिर परिचित की ही भाँति मिलते थे। यह उन्हीं की विशेषता थी। अपनी महानता का अहकार तो उन्हें छू भी नहीं गया था। यहाँ तक कि उनके यहाँ कभी कभी, ऐसे लोगों का भी जमघट लगा रहता था जो केवल उनका समय ही नष्ट करने वाले होते थे। किन्तु अपनी स्वभावगत सरलता के कारण वे उन्हें भी—कभी कुछ न कहते थे । अपनी बड़ी से बड़ी आलोचना को भी वे मुस्कराते हुए सुन लिया करते थे। हिन्दी में जब सर्व प्रथम छायावादी रचनाओं का श्रीगणेश हुआ, तो लोगों ने बड़ी नाक भौं सिकोड़नी शुरू की। केशव--काव्य के अनन्य प्रेमी श्री भगवानदीन जी "दीन" तो कविता के इस नए दौर से, यहाँ तक असतुष्ट हुए कि स्वतः कविता लिखना भी छोड़ बैठे । और उस युग की किसी प्रसिद्ध पत्रिका के संपादक के पूछने पर, उन्होंने कुछ इसी प्रकार का उत्तर दिया, कि प्रमाद वाद या अन्धकार वाद की इन रचनाओं के युग में अब मेरी रचनाओं का क्या प्रयोजन ?

जनवादी आलोचनाओं की इस कठोर परिधि मे, स्वर्गीय प्रसाद' जी को भी आना पड़ा। इससे अछूता रहा भी कैसे जा सकता था, सच पूछा जाए, तो द्विवेदी युग के बाद, हिन्दी मे छायावादी रचनाओं के मौलिक एवं सर्व प्रथम कवि होने के कारण, प्रकोप के भाजन 'प्रसाद' जी ही उन दिनों आलोचनाओं के केन्द्र विन्दु थे। किन्तु वे कर्कश आलोचना की बौछारों के नीचे भी रह कर कभी उनसे नही भीगे । उनके 'पद्मपत्रइवाम्भस' व्यक्तित्व का सच्चा अर्थ भी यही था

'प्रसाद' व प्रेमचंद ये दो ही व्यक्ति उन दिनों के युग प्रवर्तक साहित्यकार माने जाते थे। यह सर्व विदित है, कि 'प्रसाद' भारत के अतीत को जगाकर, वर्त्तमान का सुधार करना चाहते थे।" तुम कौन थे, क्या हो गये हो, और क्या होंगे अभी," गुप्त जी की इन पंक्तियों के आधार पर ही वे देश में, नवजीवन का संचार करना चाहते थे। और प्रेमचन्द देश के वर्त्तमान को ही जगाकर, जागरण का शंख फूकना चाहते थे। इन दोनों साहित्यिक महारथियों की रचनाओं मे, यही सबसे बड़ा अन्तर था। आरभ मे, प्रेमचन्द जी भी "प्रसाद" के अन्तर्हित उद्देश्य को नही समझ सके। उनके नाटकों के संबंध में आलोचना करते हुए, माधुरी में उन्होंने लिखा था, 'कि नाटकों में, ऐसे प्लाट का उपयोग करना—गड़े मुर्दे उखाड़ना है।" इस आलोचना के कुछ ही समय उपरांत, 'प्रसाद का 'कंकाल' उपन्यास प्रकाशित हुआ। उससे प्रभावित होकर प्रेमचन्द जी को अपनी उस आलोचना पर, प्रसाद के समक्ष अत्यन्त—खेद प्रकट करना पड़ा। किंतु उस निर्विकार साहित्य सेवी ने, बड़ी ही सरलता से यही उत्तर दिया— "मुझे उसका कोई ख्याल नहीं है।' यह तो एक ऐसी घटना है, जो कुछ अधिक प्रसिद्धि—प्राप्त है। साथ ही जिसका संबंध, हिन्दी के एक बहुत बड़े उपन्यासकार से है। इसके अतिरिक्त भी अन्य पत्र पत्रिकाओं में, 'प्रसाद जी के सम्बन्ध में, अनेक टीका टिप्पणियाँ होती रहती थी। आज की ही भाँति, उन दिनों भी हिन्दी मे अखाड़े बाजों की कमी नही थी। किन्तु 'प्रसाद' जी ने अपनी ओर से, कभी भी किसी के प्रति कोई द्वेष भावना नहीं प्रकट की। अपनी आलोचनाओं के सम्बन्ध में, सदैव वे मुस्कराकर ही रह जाया करते थे। विश्वास और श्रद्धा के इस महान् हिमालय को, ऐसे अनुदार एवम अपरिपक्व आलोचना की इन आँधियों ने कभी स्पर्श भी नही किया।

सौभाग्य से 'प्रसाद' जी का जन्म भी, एक बहुत बड़े परिवार में हुआ था। वैभव की जहाँ कमी न थी। हृदय भी जहाँ संकुचित न था। काशी-नरेश के यहाँ से लौटकर आने वाले, कवियों और विद्वानों का आदर फिर, 'प्रसाद' जी के ही घर पर होता था। 'प्रसाद' जी के पितामह व पिता अपनी उदारता के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध थे। काशी मे वे सुघनीसाहु के नाम से आज दिन भी अत्यधिक प्रसिद्ध है। इन पंक्तियों के लेखक का निजी अनुभव है, कि कुछ वर्ष पूर्व जब काशी पहुंच कर 'प्रसाद' जी के नाम से, उनके निवास स्थान की खोज की गई तो सामान्यतः लोग उसे बता सकने में असमर्थ रहे। किन्तु सुघनीसाहु का नाम लेते ही, उन्होंने 'प्रसाद' जी का पता ठीक ठीक बता दिया।

'प्रसाद' जी अपने उदार व प्रसिद्ध पिता की, उदार व प्रसिद्ध संतान थे। रुपये पैसे का लोभ, तो उन्हे छू तक नही गया था। साधारण से साधारण, व्यक्तियों की सेवा में भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते थे। फिर साहित्यिक मित्रों का तो कहना ही क्या उनके लिए तो वे अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत रहते थे

यद्यपि उनकी इस विराट उदार भावना, व लंबे खर्च का परिणाम अन्त में यह निकला, कि उन्हें बहुत सी सपत्ति बेच कर ऋण-भार से मुक्त होना पड़ा।

'प्रसाद' जी कुछ मनमौजी व शौकियानी तबियत के भी व्यक्ति थे। बनारसी तो थे ही। व्यायाम से उनका प्रेम बहुत बचपन से ही था। और इस क्षेत्र में उनका, अभ्यास इतना बढ़ा चढ़ा था, कि वह पाँच सौ दण्ड बैठक प्रतिदिन लगाया करते थे। कहते है फल और दूध के अतिरिक्त आधसेर बादाम का भी वे सेवन किया करते थे। उनका जैसा सुदृढ़, मांसल व व्यायाम-सुगठित-शरीर वाला व्यक्तित्व, हिन्दी साहित्यकारों में आज तक दूसरा नहीं हुआ। डा० जगन्नाथ प्रसाद जी ने अपने बचपन में, जब सबसे पहली बार उन्हें देखा, तो उनके हृष्ट-पुष्ट सुगठित शरीर का अवलोकन कर वे एकबारगी आश्चर्य-चकित रह गये। उस समय भी उन्होंने देखा, कि एक कमी चारपायी पर एक स्वस्थ युवक, तेल की मालिश करा रहा है। सुगठित स्वस्थ शरीर, गम्भीर विचारपूर्ण नेत्र, ऊँचा ललाट, जिस पर त्रिपुण्ड की जैसी तीन रेखायें स्पष्ट थीं। गुलाब के इत्र से मालिश हो रही थी। और बातचीत भी गुलाब के इत्र पर ही हो रही थी। व्यायाम के साथ ही साथ, 'प्रसाद' जी को कुश्ती लड़ने का भी शौक था। यद्यपि बड़े भाई की मृत्यु के बाद, उन्होंने इसे समाप्त ही कर दिया था। सुन्दर कपड़े, इत्र, पान, पुष्प, संगीत, बनारसी कजरी, शतरञ्ज व विजया, इन सबों से उन्हें अनुराग था। इत्र के तो वे बहुत बड़े पारखी भी थे। इन्हीं कई बातों से प्रभावित होकर सम्भवतः श्री रायकृष्ण दास जी व 'प्रसाद' जी को लोग 'आखिरी मुगल' के सम्बोधन से भी युक्त कर देते थे।

'प्रसाद' जी पाकशास्त्र के भी पंडित थे। साधारण से साधारण वस्तुओं को भी अपना हाथ लगाते ही-वे-अत्यन्त रोचक बना देते थे। हास्यविनोद की भी मात्रा उनमें कम न थी। गोस्वामी जी की श्रृङ्गारिक मर्यादा की दोहाई देते हुए, जब किसी सज्जन ने बड़ी उठा बैठी की, तो 'प्रसाद' जी ने धीरे से मुस्कराते हुए कहा—"तो फिर यह बताइये, कि—"उमगि नदी अंबुधि पँह आई" में और क्या है। आखिर श्री रायकृष्णदास जी को कहना ही पड़ा—"कि है छटा बनारसी।" और सच भी यही है, 'प्रसाद' जी की प्रत्येक बातचीत, चालढाल, रहन सहन, हास परिहास, सबों मे उनका बनारसीपन आगे झलकता था। आँखों मे चश्मा और हाथ मे डण्डा-यह उनके सुगठित शरीर पर-और भी अधिक फबकर रह जाता था। आडम्बरहीन एवम् मिलनसार स्वभाव के, तो वे इतना अधिक थे, कि कोई भी मिलने आया हो, उससे उसी प्रकार, जैसे भी-बैठे-लेटे-खाते या मालिश करवाते हों, मिलने के लिए प्रस्तुत रहते थे। हास्यावतार श्री कृष्णदेवप्रसाद जी गौड़ यानी 'बेढब' बनारसी से जब उनकी सब से पहली भेंट हुई-तब वे एक चटाई पर बैठे-केवल कमर में एक अँगोछा लपेटे हुए, तेल की मालिश करा रहे थे तो भी

उन्होंने वेदब जी से भेंट करने में कोई संकोच नहीं किया। इस प्रकार वे इस क्षेत्र में, "जो जैसेहिं तैसहि उठि धावहिं" की स्वाभाविकता को ही चरितार्थ करते हुए देखे जा सकते थे। आगन्तुकों से बातें करते हुए तो वे कभी उकताते ही न थे। जब तक कि स्वयं आने वाला ही न थक जाय। किन्तु इन इसके साथ वे, 'पवलिक विजिट' आदि के ढकोसलों से भी सर्वथा दूर रहते थे। कवि सम्मेलन आदि सामूहिक आयोजनों में एक तो वे जाना ही नहीं पसन्द करते थे। और यदि कभी चले भी जाते, तो कविता पाठ बड़ी ही कठिनाई से किया करते थे। पत्र का उत्तर देने में भी, प्रायः शैथिल्य ही बरत जाते थे, अथवा बहुत कम पत्रों के उत्तर दिया करते थे। इस क्षेत्र में उनका स्वभाव बहुत कुछ आचार्य शुक्ल के स्वभाव से मिलता था। शुक्ल जी भी सभा सोसाइटियों मे बहुत कम ही आया जाया करते थे। चार बजे से यदि कहीं बैठक है, तो दस बजे से ही उन्हे घेरना पड़ता था। इण्टरमिडिएट बोर्ड की बैठक के सदस्य होते हुए भी वे उसके अधिवेशनों मे बहुत कम ही उपस्थित हो सके। एक बार बहुत प्रयास करने पर जब वे वहाँ पहुँचे भी तो बैठक की सारी कार्यवाही समाप्त हो चुकी थी। केवल उपस्थित ही नाम मात्र को देकर, वे वापस लौट आये। इस सम्बन्ध में, तो स्वर्गीय हरिऔध जी बड़े सावधान थे। पत्रोत्तर देने, सभासोसाइटियों में भाग लेने, स्वतः जाकर दूसरों से मिलने में वे प्रायः अत्यधिक सतर्क रहा करते थे। वैसे तो 'प्रसाद' जी कविता बहुत कम सुनाया करते थे। किन्तु उनका कण्ठ माधुर्य व संगीत से पूर्ण था। पढ़ने की शैली भी उनकी अपनी थी। नागरी प्रचारिणी, सभा की ओर से, आयोजित, वार्षिकोत्सव के अवसर पर, 'नारी और लज्जा' शीर्षक रचना उन्होंने इतने मधुर-स्वरों में सुनाई कि चारों ओर वाह वाह की पुकार मच गई।

'प्रसाद' जी का काव्यारम्भ ब्रज-भाषा से हुआ है। नौ या दस वर्ष की अवस्था में ही, उन्होंने कविता रचना आरम्भ कर दिया था। ब्रज भाषा की उनकी कुछ रचनाएँ तो, अत्यधिक सरस बन पड़ी हैं। 'प्रसाद' जी के अभिन्न मित्र सहयोगी श्री विनोदशंकर जी ने उनकी इन रचनाओं के सम्बन्ध में, एकस्थल पर कहा है— "इस ब्रज भाषा-काव्य के आरम्भिक क्रम-विकास में रहस्यवादी कवि के अस्तित्व का पता किसे लग सकता था। यह भी रहस्यवाद की ही भाँति रहस्यमय है। और सचमुच 'चित्राधार' व 'कानन कुसुम' मे संग्रहीत उनकी ब्रजभाषा की आरम्भिक रचनाओं को देख कर, सहसा किसी को भी यह विश्वास नहीं हो सकता था, कि इनका प्रणेता ही एक दिन, हिन्दी खड़ी बोली में, 'कामायनी' 'आँसू' 'अजातशत्रु' आदि ग्रन्थों का प्रणेता होगा।

यद्यपि 'प्रसाद' जी दैवयोग से, एक व्यवसायी कुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु उनका अधिकांश समय साहित्यिक मित्रों की गोष्ठी साहित्य सेवा व में ही व्यतीत होता था कभी कभी किसी पुस्तक का अध्ययन करते करते, वे सम्पूर्ण निशा

का जागरण भी कर डालते थे। भारत के अतीत से उन्हे विशेष अनुराग था। वैदिक युग व वैदिक धर्म दोनों के ही प्रति उनकी श्रद्धा–अटूट एवम् अगाध थी। वेदों के विश्वव्यापी प्रेम के—वे अन्यतम उपासक थे। 'वैदिक इन्द्र' पर भी 'मनु' की भाँति वे एक महाकाव्य लिखना चाहते थे। अपनी इस इच्छा को उन्होंने श्री रूपनारायण जी पाण्डेय के समक्ष कई बार प्रकट भी किया था, जीवन व साहित्य दोनों में ही वे 'शिव' व 'आनन्द' के उपासक थे। स्वयम् उनके घर मे ही, शिव का एक विशाल मन्दिर था (जो अब भी है) वे प्रतिदिन वहीं जाकर पूजन करते, व मधुर कंठ से वैदिक मंत्रों का पाठ करते। अपने व्यक्तित्व से भी वे स्वतः शिव स्वरूप ही प्रतीत होते थे। 'आनन्द' आदर्श, 'शिव' एवम् 'श्रेय' एक शब्द में 'प्रसाद' जी के व्यक्तित्व की विवेचना, इन्हीं शब्दों में की जा सकती है। किन्तु उनका आनन्द, बरसात में फूल तोड़ कर बहने वाली क्षुद्र नदियों की तरह उच्छृङ्खल नहीं, अनत सिन्धु की तरह गभीर था। आनन्द की खोज मे वे कस्तूरी के मृग की भाति, बाहर भटकना ठीक नहीं समझते थे। वे तो अन्तःप्रदेश में बहने वाले आनन्द के उस श्रोत के उपासक थे, जिसका आनन्द कभी घटता नहीं। प्रत्युत अनुदिन बढ़ता ही रहता है। इस सम्बन्ध मे एक घटना का उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा। 'प्रसाद' जी का घर सामान्यतः सदैव ही साहित्य प्रेमियों से भरा रहता था। दूसरों के स्वागत सम्मान का, 'प्रसाद' जी में, एक विशेष गुण था। स्वयं अपने हाथ से बनाई हुई सुस्वादु वस्तुओं को अपने मित्रो को खाने खिलाने में, उन्हे अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता था। एक बार साहित्यिकों के लिये उन्ही के घर, कुछ 'बिजया' का प्रबन्ध किया गया। 'प्रसाद' जी विजया–प्रेमी अवश्य थे, किन्तु बहुत कम मात्रा में ही–उसका सेवन करते थे। अतएव जब, कई लोगों ने, उनसे 'विजया' अधिक लेने का आग्रह किया—तो उन्होंने अपने हृदय की ओर संकेत करते हुए कहा इतना ही बहुत है, सारी मस्ती तो इसमें भरी है।

कई लोगों का ऐसा भी मत है कि 'प्रसाद' जी का व्यक्तित्व, बहुत कुछ उन्ही के प्रमुख पात्र "चाणक्य" में भी देखा जा सकता है। किन्तु उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का सच्चा स्वरूप, चाणक्य की कठोरता मे नहीं देवसेना की उदारता व कोमलता में भी देखा जा सकता है। उनमे यदि एक कर्मठ पुरुष का पौरुष है, तो नारी की कोमलता भी है। समरसता के वे सबसे बड़े पुजारी थे। 'कामायनी' समग्रतः उनकी सामञ्जस्य भावना से ओतप्रोत् समरसता की ही एक व्यापक विशद कथा है। 'श्रद्धा–विश्वासरूपिणौ' भवानी शङ्कर के उपासक 'प्रसाद' का जीवन भी नखशिख श्रद्धा से ही ओत प्रोत् था। नारी को तो वे, श्रद्धा की प्रतिमा ही मानते थे। कामायनी में उन्होंने कहा भी है—

> नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास–रजत–नग–पगतल में
> पियूष–श्रोत् सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में॥

'प्रसाद' जी जितने ऊँचे साहित्यकार थे, उतने महान व्यक्ति भी थे। श्री रायकृष्णदास का यह कहना सर्वथा उपयुक्त है, "कि मनुष्य रूप में 'प्रसाद' जी अपनी साहित्यिक ऊँचाई से किसी भी प्रकार कम न थे।" नारी के त्याग, आदर्श, व प्रेम की प्रशंसा करते हुए वे कभी थके नहीं। वैदिक युग की नारियों की प्रशसा उन्होंने सदैव मुक्त कंठ से की। यदि उनके व्यक्तित्व का मूल उद्‌गम 'आनन्द' और उन्हे स्वत एक आनन्दवादी साहित्यकार मान लिया जाय, तो कोई आपत्ति न होनी चाहिए। 'एकघूँट' शीर्षक नाटक के प्रमुख पात्र, 'आनन्द' में—'प्रसाद' जी ने लगता है, अपना ही सच्चा स्वरूप अङ्कित कर दिया हो। "सबसे एक घूँट पीते पिलाते, नूतन जीवन सञ्चार करते चल देना—यह तो मेरा संदेश है।" सचमुच ही "आनन्द" के इस सदेश में, 'प्रसाद' के आनन्दमय व्यक्तित्व की गहरी छाप है। वे आजीवन इस आनन्द के ही उपासक रहे। आनन्द की ही सृष्टि करने में, उनका समस्त जीवन व्यतीत हुआ। जो भी उनके पास पहुँचा—उसे ही उन्होंने 'आनन्द' के अमृत घूँट पिलाए। और आज उनकी मृत्यु के बाद भी हम उनकी रचनाओं से—उनके आनन्द-घूँटों का ही पान कर रहे हैं।

उनके सच्चे व्यक्तित्व का विश्लेषण भाई धर्मवीर 'भारती' के इन शब्दों में पढ़ा जा सकता है—"प्रसाद शिव के उपासक थे। वह देवता, जो कुरूपता, विषमता, व अन्तर्विरोधों का देवता है। वह देवता जिसके गले मे पार्वती की बाहें भी है—और जहरीले साँप भी हैं।......जिसका वाहन है, भारतीय किसानों का अन्नदाता पशु वृषभ और जिसके गण हैं—सांस्कृतिक विषमता व शोषण की संतानें, विकलांग प्रेत। वह देवता 'प्रसाद' जी का उपास्य था। और न केवल साहित्य में वरन् जीवन में भी वह अपने को सदा शिव का प्रतिनिधि मात्र ही मानते रहे।"

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

श्री जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' आधुनिक युग की सबसे महत्वपूर्ण देन है। यदि आज के युग में छायावाद का कोई भी प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है, तो वह कामायनी है। द्विवेदी-युग की जड़ता और इतिवृत्तात्मकता के विरोध में ही छायावाद का जन्म हुआ और प्रसाद की 'कामायनी' उसी छायावादी परम्परा का प्रतिनिध काव्य है। तुलसी के 'मानस' के उपरांत, यदि किसी की महाकाव्य में गणना हो सकती है, तो वह कामायनी है।

वर्तमान युग—वर्तमान युग तर्क और विज्ञान का युग है। आज का मनुष्य जीवन के रहस्य को, तर्क के सहारे सोचने और समझने की कोशिश करता है। तर्क की कसौटी पर जो धारणा ठीक उतर जाती है, उसी को वह कठोर सत्य मान लेता है। 'प्रसाद' के इन शब्दों को, कि "मनुष्य के पास अपने समर्थन के लिए, तर्कों का शस्त्र अवश्य है पर कठोर सत्य उसकी उद्दण्डतापूर्ण मूर्खता पर अलग खड़ा मुस्कराया करता है।" वह भूल सा गया है। रही बात, विज्ञान के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की, मैं तो दावे के साथ, यह कहने के लिए तैयार हूँ कि विज्ञान के उत्कर्ष ने, यदि एक ओर मनुष्य के रहन सहन की सुविधायें प्रदान की हैं, मानव संस्कृत को ऊँचे उठाया है, उत्पादन के क्षेत्र को विस्तृत किया है, रेल, तार, डाक जैसी उपयोगी वस्तुओं से हमारी कठिनाइयों को दूर करने की कोशिश की है, तो दूसरी ओर उसने सम्पूर्ण मानव जाति को शोषक और शोषित दो भागों में विभाजित कर दिया है। और सुख के स्थान पर दुख ही अधिक मात्रा में दिया है। लूट, खसोट, अत्याचार, खून, जय-पराजय, दूसरे के स्वत्वों को हड़प जाने की भावना—सब विज्ञान से ही प्रस्फुटित हुए हैं। मनुष्य को बर्बर, देवता को दानव बना देने की जिम्मेदारी विज्ञान पर ही है। काश, अब भी हम सोच पाते, जिसकी ओर 'प्रसाद' ने, वर्षों पूर्व इशारा किया था—कामायनी द्वारा:—

> "प्रकृति शक्ति तुमने, यंत्रों से सबकी छीनी।
> शोषण कर जीवनी बना दी, जर्जर झीनी॥"

जीवन दर्शन—आज का मनुष्य विज्ञान और तर्क द्वारा, सुख समृद्धि एवम् सत्य की खोज कर रहा है। पर वह भूल रहा है—वह प्रकृति से विकृति की ओर जा रहा है। सत्य को इस तरह वह कभी नहीं पा सकता। आत्मप्रवञ्चना थोड़ी देर के लिए, वह भले ही कर ले। तुलसी ने भी बहुत पहले ही जीवन दर्शन की ओर इंगित करते हुए कहा था

"कोउ कह सत्य झूँठ कह कोऊ, जुगुल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास, परिहरै, तीन भ्रम, सो आपुहि पहिचानै॥"*

तर्क के विषय में, उन्होंने कहा है, कि वह तो केवल वाक्यज्ञान है। उससे सत्य का अन्वेषण कदापि नहीं हो सकता। कामायनी का भी यही संदेश है। मनुष्य अपनी नैसर्गिक शक्तियों का प्रयोग कैसे करे—उसके व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन में, समरसता कैसे उत्पन्न हो, घर में, समाज में, कुटुम्ब में नारी का जीवन कैसा हो, मनुष्य का व्यवहार उसके प्रति कैसा होना चाहिये स्थूलरूप से, कामायनी में, इन्हीं प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। कामायनी के दर्शन के अन्तर्गत इन्ही प्रश्नों की विशेष विवेचना की गयी है। और है भी, आज के युग में ये ही महत्वपूर्ण प्रश्न। जीवन-दर्शन से संबद्ध ये ही प्रश्न हो भी सकते है। 'कामायनी' का कवि जीवन दर्शन को ही सब कुछ मानता है। इसलिए, कामायनी के दर्शन के अन्तर्गत, जीवात्मा, परमात्मा जैसे जटिल विषयों का प्रवेश अधिक नहीं। आध्यात्मिक दर्शन को ही सच्ची फिलासफी समझने वाले मुँह बना सकते है, जीवन-दर्शन को भी थोड़ा बहुत महत्व देने वाले गद्गद् भी हो सकते है।

विचार व भाव का सामञ्जस्य

मैं यह कह रहा था कि आज का युग विज्ञान का युग है और तर्क के के सहारे आज का मनुष्य सत्य की खोज में, एड़ी चोटी का पसीना एक किये दे रहा है। पिछला युग श्रद्धा-समन्वित विश्वास का युग था। आज का युग शङ्का और सशयों का युग है। पिछला युग भाव-प्रधान था, आज का युग है विचार-प्रधान; आज का मनुष्य बुद्धि प्रधान है। तब का मनुष्य हृदय प्रधान था। कामायनी द्वारा 'प्रसाद' ने, दोनों युगों के बीच, समन्वय और समरसता स्थापित करने की चेष्टा की है। विचार और भाव, एक दूसरे के अन्योन्याश्रित रहें, नही तो जीवन विषाक्त हो जायेगा, जहर फैल जायेगा, और उत्पीड़न, शोषण, नर संहार उसका परिणाम होगा। जो आज हमे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। मुझे तो उन लोगों पर तरस आता है, जो 'प्रसाद' के सम्पूर्ण साहित्य सिंधु को मथ डालने के बाद अथवा 'कामायनी' के ही अध्ययन के पश्चात् यह कहने लगते है—"प्रसाद तो पुरातनवादी है, अतीत की ही बाँसुरी बजाया करते हैं। समन्वयवादी व्यक्ति क्या कोरा कोरा पुरातनवादी हो सकता है? कदापि नहीं। 'प्रसाद' न पुरातनवादी हैं और न कोरे प्रगतिवादी—वे अतीत और वर्तमान दोनों की कड़ियों को जोड़ने वाले—समन्वयवादी हैं। तुलसी की पंक्ति—'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने' के अनुसार 'प्रसाद' किसी वस्तु को अतीत की धरोहर कहकर, अपना लेने की ही बात नही कहते, और न किसी धारणा को, वर्तमान की उच्छिष्ट कहकर ठुकरा देने की ही राय देते हैं जो

उपयुक्त हो, जिसमें 'परमहित' हो, वही सुन्दर है। चाहे वह प्राचीन हो—या अर्वाचीन। 'कामायनी' का एक यह भी संदेश है। हाँ—यह बात दूसरी है, कि 'प्रसाद' प्रयोगाधीन वर्तमान को अपनाने मे हिचकते है—प्रयोगसिद्ध वर्तमान को ही जीवन संबल बनाकर चलने में, वे अधिक संतुष्ट हैं। इसीसे उनका वर्तमान अतीत का प्रेमी है।

श्रद्धा और बुद्धि का सहयोग

कामायनी के दर्शन को, और भी अधिक स्पष्ट रूप से, समझने के लिए, हमें कामायनी के पात्रों की ओर भी ध्यान देना होगा। कामायनी के प्रमुख पात्र हैं, मनु, श्रद्धा (कामायनी) और इड़ा। ये तीनों क्रमशः मन, हृदय और बुद्धि के प्रतीक हैं। हृदय और बुद्धि जब तक अन्योनाश्रित न होंगे, जीवन की कड़ुवाहट दूर नहीं हो सकती। पर बुद्धि और हृदय एक दूसरे के आश्रित होते हुए भी, हृदय की ही प्रधानता होनी चाहिये। बुद्धि हृदय द्वारा ही नियंत्रित होनी चाहिए न कि हृदय पर बुद्धि का नियंत्रण होना चाहिए। यों भी कहा गया है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्·।' ज्ञान अर्थात् बुद्धि (इड़ा) तो श्रद्धा अर्थात हृदय से उत्पन्न ही है। उन दोनों में जनक जन्यका सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से भी बुद्धि तत्व को हृदय-तत्व का ही सेवक होना आवश्यक है। पुत्र, पिता की सेवा करता है न कि पिता पुत्र की। जीवन की इन्ही तीनों रागात्मक प्रवृत्तियों [मन, हृदय और बुद्धि] में समरसता उत्पन्न कर आगे बढ़ना सफलता का सूचक है—अन्यथा जीवन जीवन नहीं रह सकेगा, विनाश का भयानक अट्टहास उसकी नीव को उखाड़कर फेंक देगा। विज्ञान और बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं। ये असुर भाव को ही जाग्रत कर सकते हैं—देव-भाव की जाग्रति के लिए तो हमें श्रद्धा का ही आँचल पकड़ना होगा।

जब तक मनु श्रद्धा के अंचल में बँधे रहे वे सन्तोष, सुख और आनन्द का अनुभव करते रहे। बुद्धि प्रधान सारस्वत प्रदेश में पदार्पण करते ही [इड़ा के नगर में] उन्हें घोर दुःख, असन्तोष और अभाव का अनुभव हुआ। मनु इड़ा के साथ बुद्धि-व्यभिचार करने पर तैयार होते हैं। फलतः सारस्वत प्रदेश की प्रजा उनके विरुद्ध घोर विप्लव करने के लिए तैयार हो जाती है वे युद्ध मे पराजित होते हैं, चेतना-विहीन होकर गिर जाते हैं। श्रद्धा स्वप्नों में मनु की इस अवस्था का आभास पाकर वहीं पहुँचती हैं। उसके कोमल स्पर्श से मनु को चेतना पुनः वापस लौटती है और फिर उसी की शीतल छाया में वे कर्मलोक, भाव-लोक, ज्ञान लोक के समन्वित दर्शन कर जीवन के चरम लक्ष्य 'आनन्द की प्राप्ति करते हैं। श्रद्धा और बुद्धि—ये दोनों तो पाथेय हैं—जीवन का लक्ष्य तो 'आनन्द' ही है, जो श्रद्धा और बुद्धि दोनों के सहयोग से प्राप्त किया जा सकता है। यही कामायनी का सबसे महत्त्वपूर्ण सन्देश है।

अब आनन्द कहाँ से प्राप्त किया जाय! यहीं हमें तुलसीदास और 'प्रसाद'

में क्या अन्तर है, स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। तुलसी 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी के मानने वाले हैं, प्रसाद 'अहं ब्रह्मास्मि, एकोहम् द्वितीयो नास्ति' पर विश्वास करने वाले हैं। कामायनी द्वारा वे यही सिद्ध करते हैं कि आनन्द तो विश्व के मूल में ही छिपा हुआ है, प्रत्येक जीव ही महा आनन्द का प्रतीक है। जिस प्रकार ज्वाला अरणि द्वारा स्वतः प्रकट हो जाती है उसी प्रकार मन, बुद्धि और हृदय तीनों के समरस-प्रभाव से जीवन के भीतर स्वतः आनन्द की अग्नि फूट पड़ती है।

मन, श्रद्धा और बुद्धि को ही हम चाहें तो कर्म-लोक, भाव-लोक और ज्ञान लोक की भी संज्ञा दे सकते हैं। आज के मानव जीवन के ये तीनों लोक एक दूसरे से विश्रृंखल हो चुके हैं। हमें यह स्मरण नहीं रह गया कि बिना कर्म के भाव लंगड़ा है और बिना ज्ञान के कर्म अन्धा है। कर्म-लोक, भाव-लोक और ज्ञान-लोक का संघर्ष ही आधुनिक मानव की विडम्बना है। अलग अलग इन तीन लोकों को ही प्रसाद ने 'त्रिपुर' के रूप में देखा है। श्रद्धा की मुस्कान से ही इस त्रिपुर [सत, रज, तम] का अन्त होता है, और मनु अपने को आनन्द के दिव्य-लोक में समाविस्त पाते हैं। इस प्रकार कामायनी द्वारा प्रसाद ने शैवागमों के आनन्दवाद को—आधुनिकता का रूप देकर—जीवन-निर्वाण का एक नया रूप ही सामने लाकर रख दिया है।

बुद्धिवाद का विरोध—बुद्धिवाद के प्रति विरोध का आभास तो कामायनी के प्रारंभ मे ही मिल जाता है। यह बुद्धिवादी होने का ही परिणाम है कि मनु कामायनी के प्रथम सर्ग में ही हमे निराश और दुखी दिखाई पडते हैं। बुद्धि, मनीषा, चिन्ता मति ये सब एक ही शब्द के तो पर्याय हैं। किन्तु दुख की ही क्रोड़ में तो सुख छिपा है—कामायनी की ये पंक्तियाँ इसी की पुष्टि करती हैं:—

"दुःख की पिछली रजनी बीच, विकसता सुख का नवल प्रभात
एक परदा यह झीना नील, छिपाये है जिसमें सुख गात

जैसे लहरों के ऊपर फेन आ जाता है उसी प्रकार दुःख के अन्दर भी सुख की छाया है। दुख तो सुख के प्रकाश के लिए आता है।

कामायनी का तीसरा संदेश है—स्त्री पुरुष के जीवन की समरसता। यों तो जीवन के प्रत्येक पहलू में समरसता का होना आवश्यक है। व्यक्ति और समाज, जड़ और चेतन, शासक और और शासित, राजा और प्रजा, कर्म और भोग सबमें सामरस्य का होना वांछनीय है। मनुष्य जब इसी सामरस्य के सिद्धान्त का उल्लंघन करता है तो उसे अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता है। श्रद्धा के मुख से मनु के लिए निकली हुई ये पंक्तियाँ सचमुच ही सहृदय संवेद्य हैं—

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में है सत्ता कुछ नारी की
है सम्बन्ध बना अधिकार और अधिकारी की ’

मानव जीवन के प्रत्येक पहलू में जब समरसता आ जाती है तभी उसे इसी लोक में (अन्यत्र नहीं) आनन्द-मूर्ति शिव का ताण्डव नृत्य दिखाई पड़ता है। सारस्वत प्रदेश में पहुँच कर श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा को सौंपकर कहती है—

"सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत सुन माँकी पुकार" 'कामायनी' की दार्शनिकता शुद्ध शैव-तत्व पर खड़ी है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय 'आनन्द' से ही है। जैसे श्वेत रंग मे सब रंगों का समाहार होता है, वैसे ही शिव में सब द्वन्द्वों का अन्त है। जीवन में समरसता अथवा सामरस्य के आते ही, हमारे चारों ओर आनन्द का सिन्धु लहराने लगता है। मनुष्य को दुखी और विक्षुब्ध बनाने का श्रेय भेद-बुद्धि को ही है। भेद-बुद्धि ही, तो विष और मृत्यु है। 'कामायनी' द्वारा प्रसाद ने, इसी भेद-बुद्धि को दूर करने का सदेश दिया है। भेद-बुद्धि के दूर होते ही जीवन में सामरस्य आ जाता है। और समरसता के आते ही 'आनन्द' का साक्षात्कार हो जाता है। इसी आनन्द को प्राप्त करने के बाद, मनु निर्व्यलीक चिन्त, वीतराग बन जाते है। सच पूछा जाये तो ग्रन्थ का अन्त भी यहीं हो जाता है। पर आनन्दवाद अथवा 'आनंद' को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हीं उन्होंने अन्तिम दो सर्गों की सृष्टि की है।

शिव के सतुन्दित स्वरूप को प्रत्येक दर्शक अपने अपने मत के अनुसार देखना चाहता है। भिन्न भिन्न मतों से, वह शिव तत्व ढक जाता है। इतना तो निश्चित है, कि जब तक मनुष्य की दृष्टि अन्तर्मुखी न होगी—वह उस आनंदधाम शिव के दर्शन नहीं कर सकेगा। दर्शक अपने अपने मत को लेकर उस शिव-मूर्ति के दर्शन करने, एवम् अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये आगे बढ़ते है—पर स्वयं उसी शिवमूर्ति के ऊपर एक आवरण डालते जाते हैं, और वह मूर्ति प्रकोष्ठ में ढकती जाती है। भेद-बुद्धि के दूर होते ही, उस मूर्ति पर पड़े हुए आवरण हट जाते हैं। साधक आनन्दधाम-शिव के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है। 'कामायनी' की ये पंक्तियाँ इसी तथ्य का उद्घाटन करती हैं—

"सब कहते हैं खोलो खोलो, छवि देखूँगा जीवन धन की।
आवरण स्वयं बनते जाते, है भीड़ लग रही दर्शन की॥"

अन्त में 'कामायनी' के दर्शन के सम्बन्ध मे, हमें इतना और कहना है कि, कामायनी का दर्शन केवल आध्यात्मिक नहीं है—आध्यात्मिकता एवम् व्यावहारिकता, साहित्य तथा दर्शन दोनों का ही सुन्दर समन्वय कामायनी में किया गया है।

भाषा, व उसमें होनेवाले परिवर्त्तन

साधारणतः विद्यार्थीवर्ग भाषा विज्ञान (Philology) के विषय को कुछ कठिन-खुरदुरा एवम् दुरूह समझा करता है। और इसीलिए उसके अध्ययन में वह कुछ झिझकता हुआ सा दीख पड़ता है। किन्तु बात ऐसी है नहीं। हाँ यह हो सकता है, कि ज्ञान का यह क्षेत्र ऊपर से कुछ खुरदुरा भी हो किन्तु गहरे पानी में पैठकर देखने से इसमें भी नवनीत की जैसी कोमलता व कौतूहल प्रधान कहानी की सी रोचकता प्राप्त होती है। तनिक विचार तो कीजिये, माँ की गोद मे लेटे लेटे बच्चा कहता है, 'मम' और माँ समझ लेती है, कि बच्चा प्यासा है। थोड़ा और बड़ा होकर वही बच्चा अस्फुट स्वरों मे कहता है—गाय, दूध, कौआ, जिसके क्रमशः अर्थ होते हैं गाय जा रही है, दूध पिलाओ, कौआ बैठा है। इसे तो छोड़िये जब हम देखते हैं कि बैनरजी होते होते 'बंदरजी' बन गये, 'हिंस' एकबारगी ही उलट कर 'सिंह' हो गये, और 'पश्यक' कश्यप बन गया तो हमारे कौतूहल व आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। नग्न एवम् लुंचित शब्द जो, दिगम्बरों (जैनियों) की वेषभूषा का ही परिचायक था, सांप्रदायिक विडम्बना के कारण हिन्दी में नंगा-लुचा बन गया। उत्थान से पतन का यह क्रम भी कितना मर्मस्पर्शी है। इस ओर दृष्टि डालते ही हमें:—

"पाँव थर्राते थे, जिनके सामने जाते हुए।

कास ए सर उनका देखा ठोकरें खाते हुए॥" की याद हो आती है।

जब हम देखते हैं कि बिहारी, मिथिला बोली और मैथिली बंगला देश-भाषा से और बंगला, उड़िया से बहुत कुछ मिलती जुलती है। तब हमें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। चीन, मिस्र, और भारत की भाषा सजातीय न होने हुये भी बिल्ली के लिये, तीनों स्थानों पर 'म्याऊँ' शब्द का ही प्रयोग देख कर, हम स्वभावतः यही सोचने लगते हैं कि देश और काल के इतने विशाल अन्तरालों के बीच भी मानवीय संस्कृति मे समता की यह रजत रेखा कैसे आ पड़ी है। 'नग्न लुंचित' को नंगा लुचा बना देखकर, यदि हमको अपने मुंह पर रुमाल देनी पड़ती है, तो 'बनरजी' को 'बंदरजी' बना हुआ देखकर, हमे उनकी दशा पर थोड़ा तरस भी खाना पड़ता है। तो जिस विज्ञान में, करुणा एवम् हास्य का ऐसा मधुर सगम हो, उसे हम शुष्क अथवा खुरदुरा कैसे कह सकते हैं?

भाषा की इस रोचक, आत्मकथा के परिवर्तन व विकास पर प्रकाश डालने के पहले अब हम आपको भाषा के संबंध में भी कुछ बताना चाहेंगे सामान्यतः भाषा को हम अपने मनोभावों के व्यक्त करने का एक साधन कह सकते हैं मनुष्य

के बीच विचारों के आदान प्रदान के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसी को भाषा कहते है। भाषा की यह व्याख्या अत्यंत व्यापक है। और इसके अन्तर्गत पशु पक्षियों की बोली व इंगित आदि भी आ जाते हैं। किन्तु भाषा की वैज्ञानिक विवेचना करने वाला शास्त्र 'भाषा विज्ञान' भाषा के इतने व्यापक रूप को लेकर नहीं चलता। वह तो मनुष्य की भाषा और वह भी विशेष रूप से उसकी वाणी को अवलंबन मानकर चलने वाली भाषा से ही अपना संबंध रखता है। अतएव भाषा की अधिक सारगर्भित परिभाषा डा० बाबूराम सक्सेना के शब्दों में इस प्रकार दोहराई जा सकती है :—

"भाषा मनुष्य के मनोभावों व इच्छाओं के व्यक्तीकरण के लिए एक सप्रयोजन ध्वनिमूलक माध्यम है।" इस सप्रयोजन ध्वनिमूलक माध्यम मे निरतर विकास होता रहता है। यानी भाषा सदैव बदलती रहती है। प्रमुख रूप से यह विकास दो प्रकार से होता है। एक तो व्यष्टि रूप मे, दूसरे समष्टि रूप में। विकास व परिवर्तन की, इस क्रान्तिका का भी वही परिणाम होता है जो बड़ी बड़ी जनक्राँतियों का। 'ओल्ड आडर्स चेंजेथ, ईल्डिंग प्लेस टू न्यू' की, यह नवीन योजना भी कम आकर्षक नहीं होती। कुछ नये शब्द आते हैं, पुराने नष्ट होते हैं। सुप्त, जाग्रत और जाग्रत-सुप्त होते है। कुछ शब्दों के अर्थ मे अपकर्ष होता—तो कुछ ऊँचे उठ जाते है। भाषा में इस क्रांतिकारी परिवर्तन का, यानी शब्दों के आगम व लोप का, उत्कर्ष अथवा अप-कर्ष का, उत्तरदायित्व किसी एक बात पर नहीं होता। देशकाल की परिस्थितियाँ, दो सभ्यताओं का मेल मिलाप, प्रयत्नलाघव, एवम मुखसुख आदि सभी इस विशाल परिवर्त्तन के जिम्मेदार हैं।

जिन शब्दों की परिस्थिति, विशेष के अनुसार आवश्यकता नही रहती, वे लुप्त हो जाते हैं। जिनकी आवश्यकता होती है वे फिर उत्पन्न हो जाते हैं। कभी मृत शब्द, उसी रूप में अथवा फिर थोड़ा वेष बदलकर, आ जाते हैं। उदाहरण मुसलमानों के आक्रमण से, भारत के बड़े २ राज्य, छिन्न भिन्न हो गये। सैकड़ों वर्ष लोग दासता की शृंखलाओं में जकड़े रहे। अतः कुछ शब्द जैसे—आमत्य, सचिव, एवम् महा-बलाधिकृत आदि का प्रयोग लुप्त प्राप्त हो गया। भारत के स्वतन्त्र होने पर ऐसे बहुत से शब्द पुनः जीवित हो रहे है। अङ्गरेजी 'मेडेल' के लिये 'चक्र' शब्द का व्यवहार, भारतीय सेना में अभी आरंभ हुआ है। यह तो है शब्दों का पुनरागम या पुनर्जीवन। किन्तु कुछ शब्द इस क्राँति-बेला में इस प्रकार लुप्त भी हो जाते हैं, जिन्हे विद्वानों के अतिरिक्त, जनसाधारण नही जानता। उदाहरण के लिये, वैदिक "शेवधि" (खजाना)। शब्दों का आगम भी अनेक रूपों में होता है। अङ्गरेजी का Boy Cott शब्द, बिल्कुल विचित्र प्रकार स आया है और कभी २ तो अनेक शब्दों के मेल से,

नये शब्द बनाते है। और कभी २ किन्हीं स्वतंत्र शब्दों के योग से, एक नया शब्द बना लिया जाता है।

उच्चारण संबंधी परिवर्त्तन, भाषा के वाह्य परिवर्त्तन का, सबसे प्रमुख कारण होता है। उदाहरण के लिये, 'अग्नि' का आगी और फिर आग। घरमें शब्द मे, 'मे' शब्द का आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हुआ है। 'गृह' शब्द में ह + ग का 'घ' हो गया और 'ऋ' उछल कर अन्त मे आगया। 'मे'—माँहि—माँझ—मज्झ—मद्ध—मध्य बन गया। पश्यक का उलटकर कश्यप और हिंस का सिंह बन गया। इसी को भाषा विज्ञान में वर्ण विपर्यय, के नाम से अभिहित किया गया है। हिन्दी में 'मंजुल' के नाम से, रचना करने वाले, एक महोदय ने, इसी वर्ण-विपर्यय का सुन्दर दृष्टान्त देते हुये कहा है—

मंजुल माया नर्तकी सब जग रही नचाय।
उलटि कीर्त्तन कीजिए, भव-भय-शोक-नसाय॥

उक्त दोहे में, नर्त्तकी और कीर्त्तन शब्द ही विचारणीय हैं। 'नर्त्तकी' को उलट दीजिए—तो वह कीर्त्तन बन जायगा। वार्ण-विपर्यय के ऐसे सरस उदाहरण, गोस्वामी तुलसी दास में भी एक दो स्थलो पर देखे जा सकते है। 'उल्टा नाम जपत जग जाना' का रहस्य, तो आज किसी से छिपा नही। अङ्गिरा-गोत्र में, उत्पन्न, 'रत्नाकर' नाम का, एक ब्राह्मण डाकू—उसी के प्रभाव से तो आदि-कवि बाल्मीकि बन गया। यह तो है भाषा के वाध्य परिवर्त्तन। भाषा के अभ्यांतर में भी परिवर्त्तन की यह लीला अबाध चलती रहती है। वह भी दो रूपों में, एक तो अर्थ मे, दूसरे शैली मे। अर्थ-परिवर्त्तन में शब्द का महत्व बढ़ता भी है। और कभी २ घट भी जाता है। उदाहरण 'मुग्ध' शब्द वैदिक युग मे, मूढ़ या मूर्ख का पर्याय समझा जाता था। आज वह भावुकता या तल्लीनता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सस्कृत में साहसिक डाकू के अर्थ में प्रयुक्त होता है, हिन्दी में उसका अर्थ, पराक्रमी से लिया जाता है। 'महाराज' का अर्थ समान्यतः रसोई बनाने वाला, 'गुरू' का चलता पुरजा (चालाक) एवम् महत्तर का, मेहतर हो जाना, अर्थापकर्ष का सुन्दर उदाहरण है।

यह तो रहा, परिवर्त्तन का इतिहास। अब हम संक्षेप में, यह भी विचार करेंगे कि भाषा में इन महत्वपूर्ण परिवर्त्तनों के मूलभूत सिद्धान्त अथवा कारण, क्या हैं। प्रो० राममूर्ति मेहरोत्रा ने, इस परिवर्त्तन के दस कारण दिये हैं। वैयक्तिक-विभिन्नता, मुख-सुख, स्थान-भेद. विजातीय-संपर्क, शिक्षण एवम् संस्कृति, उनमे से प्रमुख हैं। ईश्वर की श्रृष्टि रचना के वैचित्र्य में, आज हमें कोई संदेह नहीं है। उसके लिये, तो 'केशव कहि न जाय का कहिए' की ही शरण लेकर चुप होना पड़ता है। प्रत्येक पुरुष की शारीरिक-गठन की भिन्नता के कारण, उसकी कंठध्वनि व उच्चारणविधि में भी थोड़ा बहुत अन्तर पड़ जाता है हाँ इस वैयक्तिक भिन्नता के

कारण, उच्चारण-भेद, अतिसूक्ष्मरूप में चाहे क्यों न हो—होता अवश्य है। कालान्तर में, जब समाज द्वारा उसे अपनाया जाता है, तो भाषा में भी परिवर्तन हो जाता है। दूसरी बात यह है, कि मनुष्य सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि वह कमसे कम समय में, अधिक से अधिक कार्य सम्पादित कर ले। विशेषत: आज का मनुष्य तो, 'शार्टकट' का परमप्रेमी बन गया है। किसी प्रशस्त-राजमार्ग से होकर अपने गन्तव्य स्थान पर कुछ क्षण देर से पहुँचने की अपेक्षा, वह किसी संकरी-गली के अवरुद्ध वातावरण को ही अधिक पसन्द करेगा। भाषा विज्ञान में, मानव की इस सहज-प्रवृत्ति की संज्ञा है 'प्रयत्नलाघव'। स्वरपरिवर्तन, व्यञ्जन-परिवर्तन, भ्रान्ति आदि के उपनियम भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। उदाहरण के लिए 'इन्द्र' का इन्दर पंडित जी पंडिजी। 'लायब्रेरी' का 'रायबरेली'। आदि।

काल-भेद के कारण भी भाषा में ऐसे ही परिवर्तन होते रहते हैं। अविच्छिन्न होते हुए भी भाषा की धारा में, अस्पष्ट रूप से परिवर्तन व काट-छाँट का काम होता चलता है। व्याकरण द्वारा कसे जाने पर भी, अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित बालकों द्वारा नियमों का पालन सुचारुरूप से न होने पर भाषा मे विकार या परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। मुग्ध (मूर्ख) का आधुनिक अर्थ विभोर (Captivated) होता है। 'साहसिक' (चोर) का आधुनिक अर्थ 'पराक्रमी' होता है। 'गवेषणा' शब्द का अर्थ पहले गाय की खोज था। अब केवल खोज है। कर्पट शब्द केवल जीर्ण वस्त्र के लिए आता था, अब कपड़ा शब्द प्राय: सभी वस्त्रों के लिये आता है।

विजातीय संपर्क का भी भाषा के परिवर्तनों में बहुत बड़ा हाथ है। दो विभिन्न जातियों के संपर्क से बहुत से नये शब्द बनते है। उदाहरण के लिए फारसी के 'इंतकाल' को शुद्ध करके हिन्दी में 'अन्तकाल' बनाया गया। 'Intrim' का का अन्तरिम 'जापान' का 'जयप्राण' (Long Cloth) का लंकलाट, इसके उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। शिक्षा व संस्कृत के कारण भी भाषा मे अनेक परिवर्तन होते रहते है। भ्रामक-व्युत्पत्ति, ध्वनिविकार, तथा मिथ्या-प्रतीति द्वारा होने वाले परिवर्तन इसी के अन्तर्गत आजाते हैं। 'लखनऊ' का नखलऊ 'नुकसान' का 'नुसकान', विन्ध्याचल का विन्ध्याचलपर्वत आदि इसी के प्रमाण है। इन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त कुछ कम प्रमुख कारण भी भाषा परिवर्तन के जिम्मेदार हैं। उन्हें हम राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक कारण भी कह सकते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक विशिष्ट-व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार प्रत्येक देश व जाति का भी एक व्यक्तित्व होता है। कुछ जातियाँ अपने को अधिक सभ्य समझने के कारण दूसरी जातियों को अपने से अलग रखने का प्रयास करती है। इस प्रकार भी उनकी भाषा मे एक विशेषता आ जाती है। जर्मन भाषा का अक्खड़पन, ब्रज का श्री बालकृष्ण भट्ट के अनुसार न बहुत कुछ इसी उदस्यता का ही परिणाम

है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि इन व्यष्टिरूप मे होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप भाषा में समष्टिरूप से भी विकास होता चलता है। हॉ, ये परिवर्तन साहित्यिक भाषा के, व्याकरणागत नियमों से जकड़ दिये जाने पर, अपेक्षाकृत मंदगति से होते हैं। पर वे होते हैं अवश्य और कालान्तर मे अधिक स्पष्टरूप में भी देखे जा सकते हैं।

:संस्कृत-काव्यालोक:

अपने देश और देश के समूचे साहित्य के लिये यह प्रसन्नता और गर्व का विषय है कि हिन्दी को आज राष्ट्र भाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। आज हिन्दी की अपनी शैली है। उसके अपने निजी कलाकार हैं, उनका अपना निजी व्यक्तित्व है। इतना सब कुछ होते हुए भी, हम निःसकोच भाव से यह कहने को प्रस्तुत हैं, कि संस्कृत-वाङ्मय का हमारे ऊपर कुछ कम आभार नहीं। संस्कृत-साहित्य की-विशाल पूँजी के कारण ही हिन्दी अपने क्षेत्र में एक है, अद्वितीय है। ओज, रस परि-पाक छन्द-साधना, भावाभिव्यंजना, चित्रोपमता, आदि काव्य के अनेक प्रधान आधारभूत गुणों के लिये, आज भी हम संस्कृत-वाङ्मय के अमर-रत्नों को नहीं भुला सकते। इन अमर-रत्नों का प्रकाश आज भी वैसा ही अछूता एवम् निर्मल है, जैसे भगवती-भागीरथी की पवित्र स्फीत्-धारा। यही कारण है कि हमें मुक्तकंठ से आज भी यही कहना पड़ता है कि—

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम्, माघोसंतित्रयो गुणाः।

संस्कृत-साहित्य के, इन्हीं अमर-रत्नों में से, कुछ आपके समक्ष भी प्रस्तुत कर रहा हूँ। सौन्दर्यमय भाव-विचार की कसौटी पर आप भी उन्हें परख कर देखिए। सबसे पहले आप 'रामरामेतिमधुरं मधुराक्षर' का कूजन करने वाले आदि कवि-कोकिल वाल्मीकि के प्रकृति चित्रण का सरस काव्यामृत पान कीजिए।

मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध अनादि है। आज की कल-युगीय (Machanic-Age) सभ्यता के प्रसार-प्रभाव से, भले ही प्रकृति से उसका सम्बन्ध कुछ दूर का हो गया हो, किन्तु सबसे पहले तो वह प्रकृति की ही मुक्त गोद में प्रसन्नता से किलक चुका है। प्रकृति के ही मुक्त निर्बन्ध वातावरण में सबसे पहले उसने अपनी आँखें खोली हैं। और आज यद्यपि उसका सम्बन्ध प्रकृति से कुछ शिथिल हो गया है, तो भी पूरी तरह से वह नष्ट नहीं हुआ है। प्रकृति की गोद मे स्वच्छन्द विहार करने वाली, कलकल-निनादिनी सरिताओं, स्वच्छ-शिलाओं पर, चाँदी से झरते हुए झरनों, चहचहाते हुए विहंगों, और निराकार को भी साकार बनाने वाले प्रफुल्ल-कमलों से, आच्छादित सरोवरों को देखकर आज भी हम थोड़ी देर के लिए, आत्म-विभोर हुए बिना नहीं रहते। जब हम सामान्य जनों की यह स्थिति है तब कला के पुजारी का तो कहना ही क्या ? चित्रकूट की रम्य वनस्थली पर, वर्षा की नन्हीं २

फुहारों को झरते हुए, देखकर, आदि कवि वाल्मीकि के हृदय से, जो काव्यमयी भावधारा फूट निकली, वह इस प्रकार है:—

व्याभाश्रितं सर्ज कदंब पुष्पैर्नव जलम्, प्रर्वतधातुताम्रम् ।
मयूर केकाभिरनुप्रपात, शैलापगा, शीघ्रतरं वहति ॥
रसाकुलम् षटपद सन्निकाशं प्रभुज्यते जंबुफलम् प्रकामम ।
अनेक वर्णं पवनावधूतं, भूमौ पतत्याम्रफलम विपक्वम् ॥
मुक्तासकाशं सलिलं, प्रतद्वैसुनिर्मलं, पत्रपुटेषु, लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना, विहङ्गाः सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबंति ॥

भावार्थ यह कि, कदम्ब-कुसुमों से, मिश्रित, पर्वत धातुओं से लाल वर्षा के, नये गिरे जल को, प्राप्त कर नदियाँ कितनी द्रुतगति से बह रही है। जिनके साथ, मोर बोल रहे हैं। रस से भरे भैरों के समान, काले-काले जामुन के फलो को लोग खा रहे है। अनेक रंग के परिपक्व आम्रफल, वायु के झोकों से टूट-टूट कर भूमि पर गिर रहे हैं। प्यासे पक्षी जिनके पंख पानी से सिक्त हो गए हैं, मोती के समान इन्द्र के दिये हुए जल को, जो पत्तों की नोक पर लगा हुआ है, हर्षित होकर पी रहे है।

कितना सरस प्रकृति-पर्यवेक्षण है। वर्षा का कैसा सांगोपांग वर्णन है।

अब महाकवि भास की भावधारा में भी, दो गोते लगाकर देखिए, कि इन काव्यमय जलसीकरों में भी कितनी शीतलता, तरलता व स्निग्धता है। प्रसन्नराघव के रचयिता, कविकुल-कोकिल जयदेव ने तो उन्हे कविता-कामिनी का चपल-विद्युतहास ही मान रखा है। उन्होंने कहा है। भासोहासः कविकुलगुरू कालिदासो-विलासः। वैसे तो श्री भास की अवतारणा, संस्कृत साहित्य के विशाल रंग-मंच पर, प्रमुखतः एक नाटककार के रूप में हुई है। और संस्कृत साहित्य में दुःखान्त-नाटक के तो वे प्रथम एवं अन्तिम कलाकार माने जाते हैं। तो भी उनके इन नाटकों में ही, इतस्त. बिखरे हुए भावचित्रों में, काव्योपकरणों का भी सहज दर्शन किया जा सकता है।

यह तो आपको विदित ही है, कि सीमाबद्ध एवम् भंगुर मानव जीवन का एक स्पंदन, एक पट-क्षेप, एक साँस भी ऐसी नहीं है, जिसके सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कोई निर्णय दिया जा सके। और फिर जिसके समक्ष, महाकाल स्वयमेव अपनी सम्पूर्ण विभीषिका से युक्त होकर आ खड़ा हुआ हो उसके सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। कहा भी गया है कि अपिधन्वन्तरि वैद्यः किं करोति गतायुषि.। अर्थात् जिसका घट भर चुका है उसके लिये धन्वंतरि भी कुछ नहीं कर सकते। जीवन के इस यथार्थ की अभिव्यक्ति महाकवि 'भास' ने कितनी सच्चाई से की है:—

"कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्यु-काले।
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ॥

एवम् लोकस्तुलय धर्मा बनाना ।
काले काले, छिद्यते रुह्यते च ॥"

आशय यह कि जब जीवन की अवधि समाप्त हुई तब कौन किसे रोक सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस तरह रस्सी के टूटने पर, उसी से लगे हुए घड़े को, धराशायी होने से कोई नहीं रोक सकता। इस छोटे से छन्द में भी मानव जीवन के यथार्थ का चित्रण कितना सुन्दर बन पड़ा है। उपमायें व उत्प्रेक्षायें कितनी स्वाभाविक बन पड़ी है। कवि ने मानव-जीवन को, मृत्तिका-घट के समान माना है। जीवन-अवधि को, रज्जुवत्। रज्जु का क्षीण होना ही जीवन-स्पंदन के शिथिल होने की सूचना है। जब रज्जु ही टूट गई—तब जीवन-घट के फूटने में बिलम्ब कितना ? यह दृश्य-जगत, यह दूर तक फैला हुआ नाना रूपात्मक संसार एक विशाल आरण्य के समान है। और यह चेतन मानव प्राणी ही उसके विभिन्न वृक्ष हैं। जो समय, पर नष्ट एवं उत्पन्न होते रहते हैं। महाकवि, भास की कल्पना का आश्रय पाकर, जीवन का यह यथार्थ कितना सजीव हो उठा है। किन्तु यथार्थ के इस काले पन्ने के साथ, आदर्श का सुनहला पृष्ठ भी जुड़ा हुआ है। जब यथार्थ एवम् आदर्श का समन्वय हो चुका अथवा जब शिवम् एवम् सत्यम् का मेल हो चुका—तो सुन्दरम् की सृष्टि में, फिर देर ही कितनी। आशय यह कि इसी भंगुर मानव जीवन मे भी कुछ घटनायें, कुछ कृतियाँ, कुछ कार्य 'अक्षुण्ण' होते है। और विशिष्ट सत्य तो यह है, प्रत्येक अच्छा कार्य अक्षुण्ण होता है, 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' की प्रेरणा से गाया गया प्रत्येक पद अमर हो जाता है। मानव जीवन के इसी आदर्शोन्मुख रहस्य का विश्लेषण करते हुए—सत्य एवं शिवम् को, सुन्दरम् के तागे में पोहते हुए भावुक भास ने, एक स्थल पर कहा है:—

शिक्षा क्षयं गच्छति काल पर्ययात् ।
सुबद्धमूला, निपतन्ति पादपाः ॥
जलं जल स्थाननगतं चशुष्यति !
हुतं च दत्तं चतथैव तिष्ठति ॥

भावार्थ यह कि परिवर्तन-चक्र के कठोर आघातों से क्षत्-विक्षत् होकर भली प्रकार जमे हुए विशाल वृक्ष भी धूल चूमने लगते हैं। शिक्षा, कला व संस्कृत भी कालचक्र में पड़ कर विलुप्त हो जाती है और विशाल जलाशयों का जल भी सूख कर समाप्त हो जाता है, किन्तु अग्नि में होमा हुआ घृत और सुपात्र को दिया हुआ दान सदैव ही ज्यों का त्यों बना रहता है। परिवर्तन की कठोर विभीषिका में पड़कर गगन-चुम्बी पर्वत धराशायी होते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, यह जीवन का यथार्थ है। किन्तु अग्नि में होमा हुआ घृत और सुपात्र को दिया हुआ दान ज्यों का त्यों बना रहता

है''—यह आदर्श है ! इन दोनों का समन्वय ही सच्चा जीवन है,—और वही सच्च काव्य है ?

भारतीय नारी के आदर्श व त्याग की कथाओं से प्रायः हम सभी परिचित हैं। पुरुष जाति के क्रूर व्यवहारों की ओर ध्यान न देकर अपने आँचल की शीतल छाया में उसके समस्त अनुतापों को धो डालने में वह सदैव से ही कितनी सक्रिय रही है। त्याग की इसी साकार-प्रतिमा की ओर इंगित करते हुए 'प्रसाद' ने कहा था—

''नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास, रजत नग पगतल में।
पीयूष-स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥''

महाकवि भास भी उसी भारतीय नारी के आदर्श की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैः—

''दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति, या हृष्टे, पुहृष्टा तथा।
दीने दैन्यमुपैति, रोष, परुषे, पथ्यं, बचो भाषते।
काल' वेत्ति कथाः करोति निपुणा मत्संस्तवे रज्यति।
भार्या, मंत्रिवरः, सखा, परिजनः सैका, बहुत्वं गता॥''

'कार्येषु मंत्री, करणेषुदासी', से सादृश्य रखते हुए भी, भास के इस पद का लालित्य ही कुछ और है।

अब आप भावुक कलाकार के, कला जगत से भी अपना सनिध्य स्थापित कीजिए। यों तो, 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' के अनुसार कला की भी विभिन्न विवेचनायें हैं। किन्तु निर्विवाद रूप से, कला के सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि मानव आत्मा के भीतर—जो नाना प्रकार की सुकुमार वृत्तियाँ, तथा नाना प्रकार के सूक्ष्म भाव हैं, जो रेडियम के वैद्यु तिक कणों की भाँति चमक रहे हैं, उनमें अभ्यंतरीण आनन्द का रस उड़ेल कर, सौंदर्य की सृष्टि करना ही कला है। किन्तु भावुक भास की कला से मेरा प्रयोजन कुछ और है। उनकी कविता के कला-पक्ष से मेरा प्रयोजन है, वर्ण्य विषय के प्रकाशन मे उनके अलकार, उक्ति वैचित्र्य, एवम् रस-परिपाक की व्यवस्था। इस अर्थ में, काव्य के कलापक्ष को, सौष्ठव प्रदान करने के लिए, काव्य में, भाषा व भावों की मैत्री, संगीत की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक कवि-कर्म बन जाते हैं। संस्कृत में रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए ही, विशेष रूप से अलंकारों की योजना की गई है। रमणीय अर्थ, रस-परिपाक मे विशेष सहायक सिद्ध होता है। अस्तु अलंकार योजना भी ऐसी ही होनी चाहिए, जिससे काव्य का नैसर्गिक सौन्दर्य न नष्ट हो सके।

इन अलकारों में, रूपक का अपना निजी स्थान व सौन्दर्य है। तुलसी और सूर की रचनाओं में, तो बड़े बड़े सांगरूपकों के दर्शन होते हैं। और अपनी इस रूपक-योजना में भारती के ये दोनों ही आसक्क सिद्धहस्त दिखाई देते हैं रूपक की विशेषता

यह है, कि उसमें उपमेय व उपमान दोनों ही पक्षों का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है। कवि की सफलता भी इसी मे है, कि उसके ये दोनों पक्ष, स्वस्थ एवम् सुदृढ़ बने रहें। महाकवि भास ने, इसी अलंकार का आश्रय लेकर, युद्ध रूपी सरिता का कितना सजीव चित्रण किया है, कि उनके एक ही उदाहरण से, उनके काव्य के कलापक्ष को सौष्ठव देखा जा सकता है—कुरुक्षेत्र के विशाल युद्ध विग्रह का वह चित्र इस प्रकार है:—

भीष्मद्रोणतटां, जयद्रथजलां, गांधारराजह्रदां।
कर्ण द्रौणिकृपोर्मिमक्रनकराम्, दुर्योधनस्त्रोत् सम् ॥
तीर्णः शत्रुनदी, शरासिसिकता, येन प्लवेनार्जुनः।
शत्रूणाम् तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः ॥

आशय यह है कि महाभारत की युद्धरूपी नदी के, भीष्म व द्रोण ही दोनों कूल है। अभिमन्यु का घातक जयद्रथ उसकी प्लुगति-प्लावित जलराशि है। गांधार-राज शकुनि उसका अगाध जल-चक्र है। कर्ण जिसकी उत्ताल-तरंग है। अश्वत्थामा नक्र है। कृपाचार्य मक्र हैं। दुर्योधन ही जिसका प्रबल प्रवाह है। ऐसी बाणरूपी बालुकामयी युद्ध-नदी को, जिन श्रीकृष्णरूपी नौका का सहारा लेकर अर्जुन ने पार किया, योगक्षेम वहन करने वाले वे ही भगवान कृष्ण, हमारे लिए भी नौका के समान सिद्ध हों।

युद्धरूपी सरिता का, यह एक सांगरूपक ही, भास के कलान्तरगत-सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त है। संस्कृत-वाङ्मय ऐसे अनेक सांगरूपकों से भरा पड़ा है।

अन्त मे, मैं आपको पुनः प्रकृति के उसी कोमल व उदार आँचल की छाया में, ले जाकर, विश्राम देना चाहता हूँ—जहाँ एक बार पहुँच कर, फिर इस कोलाहल की अवनी में लौटने की इच्छा नही होती। जहाँ चारों ओर उदार-सौंदर्य की ही झाँकी दिखाई देती है। जहाँ, न कोई शासित है और न तापित। जहाँ सब कुछ सम है—एक रस और एक प्राण है।

भावुक 'प्रसाद' ने प्रत्यूष-बेला का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कहा है - आकाश के नीले पत्र पर अदृष्ट के हाथों लिखे हुए ये रजत अक्षर जब लुप्त होने लगते है,-तब संसार कहता है प्रभात हो रहा है। संस्कृत-वाङमय के एक दूसरे अमर कलाकार माघ, ने जिन में पदलालित्य, उपमा व अर्थ गौरव तीनों का ही सुन्दर समन्वय माना जाता है (माघोसंति त्रयोगुणाः) इस प्रभात-वेला को जिस रूप में देखा वह यह है:—

अरुण जलजराजी मुग्ध हस्ताग्रपादा।
बहुल कज्जलेन्दी वराङ्गी

अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरती ।
रजनिमचिरजाता, पूर्व-संध्या सुतेव ॥
विततपृथुवर-त्रातुल्यरूपैर्मयूखैः ।
कलश इव गरीयान् दिग्भराकृष्यमाणः ॥
कृत-चपल-विहङ्गालाप कोलाहलाभि- ।
र्जलनिधि-जल मध्यादेष, उत्तार्यतेऽर्कः ॥
परिभवतेजस्तन्वता माशुकर्तुं ।
प्रभवति हि विपक्षोच्छेद मग्रेसरोऽपि ॥

आशय यह कि अरुण-कमल रूपी कोमल हाथ पैरों वाली, भ्रमरावलि रूपी कज्जलयुक्त कमल-नेत्र वाली, विहग-कलरव रूपी रुदन वाली, यह प्रत्यूष-वेला नवजात-बालिका के सदृश, रात्रि रूपी माँ की ओर दौड़ी आ रही है । जिस प्रकार पनघट पर जल खींचते समय स्त्रियाँ कुछ मन्द-रव करती जाती हैं, उसी प्रकार विहग-बालाओं के, मधुर-कलरव से मुखरित, दिशा-वधुएँ किरण-रूपी रज्जु से, सूर्य-रूपी घड़े को बाँध कर, एक विशाल-कलश की भाँति, समुद्र रूपी कूप से ऊपर निकाल रही है । और सूर्योदय होने के पूर्व ही, उसके मित्र अरुण ने समस्त अंधकार को समाप्त कर दिया है । ठीक उसी प्रकार, कि जैसे, शत्रु जयी-स्वामियों के, आगे चलने वाला स्वामि-भक्त सेवक भी शत्रुओं का बध करने में सफल होता है ।

साहित्य साधना व साहित्यानन्द

तीन वर्ष पहले की वह घटना आज भी उसी दिन की भाँति स्पष्ट है जब सबसे पहली बार प्रयाग में निराला जी से मेरी भेंट हुई थी। 'जिमि सुग्रीव विभीषणहिं भई भरत की भेंट' की भांति, यह भेंट भी बड़ी विचित्र सी थी। विशाल-ललाट के नीचे दो बड़ी बड़ी जलती हुई भूरी आँखों वाला, यह दीर्घकाय मानव गेरुए रंग का एक मोटा सा खादी का कुर्ता, जिसकी बाँहें सिमटी और सिकुड़ी हुई और चरणों में भी गेरुए रंग के ही गोरक्षक जूते पहने हुए था, जिनकी जीवन अवधि लगभग समाप्त हो चुकी थी। किन्तु लगता था कि मानो वे अपनी इस स्थिति में भी 'निराला' के चरणों में ही पड़े रहने में अपना अहोभाग्य समझते थे। एक मोटा सा छोटा सोंटा हाथ में था (वह भी गेरुये रंग का) जो रह रहकर उनके निराले कठोरकर्मा व्यक्तित्व की सार्थकता का प्रमाण दे रहा था। आशय यह कि दूर से वे, एक हृष्ट पुष्ट संन्यासी की तरह दीख पड़ते थे। साहित्य व अध्यात्म का यह संगम भी निश्चय ही अद्‌भुत व अनुपम था। सांध्यकालीन आकाश की हल्की सुनहली रेखाओं में, न मालूम किस कोमल कल्पना का आनन्द लेते हुये वे यूनीवर्सिटी रोड की ओर लपके चले आ रहे थे।

मैं आपसे उन दिनों का उल्लेख कर रहा हूँ जब निराला सम्भवतः जीवन के बहुत बड़े संक्रमण-युग से गुजर रहे थे। वैसे तो वे सदैव ही संक्रमण के मार्ग से होकर ही आते जाते हैं। उनके निकट के परिचित जिनमें आदरणीया महादेवी का नाम तो भुला ही नहीं जा सकता है, अच्छी प्रकार से इसे जानते हैं, कि निराला जितने महान कवि है—उससे अधिक महान् एवम् ऊँचे वे भावुक है। और यह शायद उनकी भावुकता-जन्य उदारता का ही यह परिणाम है, कि यदि आज प्रात. उनके पास कुबेर का वैभव है, तो संध्या के समय वे फिर जैसे के तैसे। यह आर्थिक उलझन शायद उन दिनों, चरम सीमा का स्पर्श कर रही थी। यहाँ तक कि स्थायी रूप से, उनके स्थूल-अस्तित्व की कोई भी उचित व्यवस्था न थी। तो भी उनके उच्च विशाल-ललाट पर 'विश्व-वनव्याली-चिंता' की एक भी वक्र-रेखा नहीं दीख पड़ती थी। उनके भूरे नेत्रों की दीप्ति ठीक वैसी ही थी, जैसी स्नेहाप्लावित दीपक की कान्त-किरण।

परिचय देने व लेने में कुछ भी देर नहीं लगी। और फिर दीवानों का परिचय भी कोई परिचय है। दूसरे ही क्षण उनकी एक प्रसिद्ध रचना, 'जुही की कली' पर बातचीत होने लगी। तदोपरान्त अपनी समवेदना की छुरी पर शान चढ़ाते हुए, मुहूर्तमात्र में मैंने, उनके उसी स्थल पर चोट की जिसकी कि संज्ञा है मर्म—हृदय यानी अन्तस्तल और जहाँ बसेरा ले रही हैं उलझनें, जहाँ डेरा डाल है, चिंताएं किन्तु

मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब मैंने देखा कि, कोमल कल्पनाओं का वह चिन्तामणि, मेरे इस स्नेह-प्रदर्शन को विशेष क्या थोड़ा बहुत भी महत्व देने को प्रस्तुत नहीं। विषय बदल दिया गया, और अब हम भौतिकता के मरुस्थल से हटकर फिर साहित्य के मानसरोवर पर आ पहुँचे। तदोपरान्त 'निराला' जी इण्डियन-प्रेस की ओर मुड़ गये और मै श्रीमती महादेवी के घर की ओर चल पड़ा और सर्वोपरान्त तो महादेवी जी की अस्वस्थता के कारण उनसे न मिल सकने का खेद और निराला जी से मिलकर, उनके महान् व्यक्तित्व का आश्चर्य लेकर मैं घर लौट आया। वह खेद तो, जीवन के अनेक दुःखों से टकराकर समाप्त हो चुका है, किन्तु वह आश्चर्य अब भी ज्यो का त्यों सुरक्षित है। यद्यपि उसने अपना रूप थोड़ा सा बदल दिया है, और अब वह कुछ अधिक परिष्कृत होकर, 'प्रसाद' 'प्रेरणा' व 'आनन्द' बन गया है।

तब आश्चर्य होता था, कि भोजन व वस्त्रों की कठोर भौतिक आवश्यकताओं की नंगी-उलझनों के मध्य तीव्र वृश्चिकदंशों की वेदन-विवृत्ति मे भी, क्या कोई आदमी इतना संतुष्ट, इतना संतुलित, इतना बेफिकर दिखाई पड़ सकता है, क्या आदमी को भी, मिट्टी के इस पुतले को भी हलाहलपायी-शिवत्व प्राप्त हो सकता है और यदि हो सकता है, तो उसका आधार क्या है, उसकी मूल-प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है। आज रहस्य का वह कुहासा फट चुका है। तम का वह आवरण ऊपर उठ गया है। और अब मेरी समझ में यह आगया है, कि साहित्य में वह अनन्त शक्ति है; उसकी साधना मे वह नैतिक-बल है, जो संसार की किसी भी बड़ी से बड़ी भौतिकसत्ता मे नहीं देखा जा सकता। भयकर से भयकर भूचालों को भी साहित्यकार अपने वक्षस्थल मे शरण देने की शक्ति रखता है। व्यथाओं, वेदनाओं व अभावों की गोद में पलकर भी भावों का वह सम्राट्, पूर्ण है-अखण्ड है। पृथ्वी पर रहता हुआ भी वह गगनविहारी है। पार्थिव होकर भी वह अपार्थिव है। व्यापक होकर भी वह दूसरों को बरदान देने मे समर्थ है। इस पृथ्वी का तो वह सच्चा आशुतोष है। समस्त शरीर में, भभूति रमाने वाले, वस्त्र के नाम पर, मुञ्जमेखला, व कोपीन धारण करने वाले, शिव के पास रखा ही क्या है। कुछ नहीं-किन्तु कुछ न रखकर भी वह अपार है, आशुतोष है। विधान की स्याही से लिखे हुये भाग्य पटल की, समस्त कुटिल रेखाओं को मिटाने की उसमें शक्ति है। और तभी तो ब्रह्मा को, शिवा के पास जाकर कहना पड़ा था "बावरो रावरो नाह भवानी।" साहित्यकार भी-उसी शिव का उपासक है-वरन् वही स्वय भी शिव का ही प्रतिरूप है।

आज के संसार से प्रायः हम सभी थोड़ा बहुत परिचित हैं। आज का जीवन जैसा है, उसकी भी धुंधली-स्पष्ट रूपरेखा हमारे मस्तिष्क में है ही। रावण पर अन्ततोगत्वा राम की विजय दिखाने वाले, हम आदर्शवादियों को अभी तो बार-बार राम की पराजय ही दिखाई देती है तो हो सकता है, इस 'अन्ततोगत्वा' का अर्थ अधिक

के उस प्रलयकाल से हो, जब विश्व-विकृति का वह फोड़ा—सड़कर नासूर बन जाये और तब तत्काल उसके आपरेशन की उचित व्यवस्था की जाये। किन्तु व्यष्टिरूप से साहित्यकार को इससे क्या लाभ? यह एक प्रश्न है-एक समस्या है, एक चुनौती है, जिसका समाधान हमारा समाज न आज तक प्रस्तुत कर सका है, और न सम्भवतः प्रस्तुत ही कर सकेगा। किन्तु इससे क्या साहित्य-साधना का मूल्य, जीवन में उसका महत्व, किसी प्रकार कम हो सकता है? नहीं—मैं तो कहूँगा—वह और भी अधिक बढ़ गया है। सामन्तकालीन साहित्यकारों की भांति, आज के साहित्यकारों का लक्ष्य सामंतों के विराट-वैभव का शेयरहोल्डर बनना नहीं है। अब तो उसका उद्देश्य वह स्वयं आप है, उसका साहित्य है। निष्काम-साहित्याराधन—उसका एकमात्र लक्ष्य है। और जाने अनजाने उसकी पूर्ति के लिए वह अग्रसर भी हो रहा है।

अब रहा जीवन मे उस साहित्य का मूल्य? तो रुपये आने पाई में तो वह आँका नहीं जा सकता। और फिर वैभव-विलास के क्षेत्र की वह वस्तु भी नही। वह तो इस लोक में पाई जाने वाली—सच्ची ईश्वरोपासना है। और उसका मूल्य तो स्वतः जीवन है। जीवन की सुव्यवस्था और उत्थान का अर्थ है दानवीय-वृत्तियों का संहार। मंगल, श्रेय एवम् अभ्युदय की सृष्टि। साहित्यकार को चाहिए क्या? जीवन-संबल के लिए, परम आवश्यक उपकरणों को छोड़कर उसका सच्चा—व्यक्तित्व तो 'कबीर' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है:—

"विरह-कमण्डल कर लिए बैरागी दोउ नैन।
माँगत दरश-मधूकरी, छके रहत दिन रैन॥"

आप प्रश्न करेंगे, क्या साहित्यकार व संत दोनों एक हैं? मैं कहूँगा—हाँ साहित्यकार, संत एवम् समाज-सुधारक अथवा राजनीतिज्ञ तीनों ही एक हैं। बिल्कुल एक। मैं पश्चिमी-रंगीनियों की बात आपसे नहीं कर रहा, मैं आपसे अपने देश की, तपोभूमि की चर्चा कर रहा हूँ। और नितान्त सच्चाई के साथ यह कह रहा हूं—कि ये तीनों ही एक हैं, इन तीनों का लक्ष्य एक है। एक जीवन को अमृत पिलाता है दूसरा जीवन को अधिक नैतिक व आध्यात्मिक बनाता है, और तीसरा जीवन और जीवन के बीच की, मनुष्य और मनुष्य के बीच की, झूठी विषमताओं को दूर कर 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' की महानता को चरितार्थ करता है। किन्तु 'आनन्द' साधारण सुखों से ऊपर आनन्द यानी ब्रह्मानन्द-सहोदर-आनन्द के सृजन का अवसर कवि को निसर्ग द्वारा ही अधिक प्राप्त हुआ है। स्वर्ग में रहकर स्वर्गिक आनन्द का अनुभव—कोई बड़ी बात नहीं। नर्क में रहकर भी—स्वर्ग का आनन्दानुभव करना-साधना है। और उस साधना को जानता है साहित्यकार—जिसका आधार है उसका अभिनवभाव-जगत। यह आनन्द ही मानव का इष्ट है। सृष्टि का अणुपरिमाणु उसी आनन्द की खोज में [illegible] है सभी उसकी छवि के दर्शन के लिए तृषित हैं किन्तु आज की [illegible]

रूपहली-संस्कृति में आनन्द-आलोक का वह कोमल उत्स, उससे दूर होता जा रहा है। 'प्रसाद' ने अपनी 'कामायनी' में, मानव की उसी आत्म-विडम्बना की ओर संकेत करते हुए कहा था—

"सब कहते हैं खोलो-खोलो, छवि देखूँगा जीवन धन की।
आवरण स्वयं बनते जाते, है भीड़ लग रही दर्शन की॥"

अभी तो उस आनन्द की किरण इस कठोर धरातल पर फूटती दिखाई नहीं देती। कल्पनालोक व साहित्यजगत में भी, लोगों ने यथार्थ की दुहाई दे देकर कितनी विशृङ्खलता बढ़ा दी है यह भी आज किसी से छिपा नहीं। फिर भी हम जी रहे हैं और हमें जीवन दे रही है, साहित्य की वह साधना जिसमें आनन्द है, प्रमोद है उल्लास है, और है जीवन का सच्चा संदेश। अभ्युदय, मंगल, श्रेय एवम् विश्व-मंगल की पोषिका कामायनी, सम्भवतः इस ओर का सबसे स्तुत्य प्रयास है।

रोने में भी हँसने का आनन्द, काँटों में भी फूलों का मजा, ("गुलों से खार अच्छे है") और विष में भी मधु की मस्ती ("राणा दीन्हों विष का प्याला मीरा-पीवत हाँसी रे") लेने का संदेश हमें पवित्र साहित्य-साधना ही देती है। मृत्यु-नियति का सबसे भयावह अट्टहास, जिसका नाम सुनते ही हम हतप्रभ हो जाते है, साहित्य-साधना उसी के लिये कहती है वह तो एक वस्त्र परिवर्तनमात्र है।

"मृत्यु एक सरिता है, जिसमें श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर नूतन धारण करता है, कायारूपी वस्त्र बहाकर॥"

फिर बचा ही क्या ? जीवन और मरण, सुख और दुख विश्वयुगों के समस्त झगड़े तो साहित्य ने सुलझा दिये।

तत्काल-प्रभावोत्पादकता के लिए भी साहित्य-साधना अपना जोड़ नही रखती। पेट में पहुँचने भर की देर है, औषधि अपना असर दिखाना शुरू कर देती है। संजीवनी का महत्व भी यही है। साहित्य-साधना उसी अमर संजीवनी-शक्ति से पोषित है।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहि विकास यहि काल।
अलीकली ही सों विंध्यो, आगे कौन हवाल॥"

यह एक ही दोहा था, बिहारी की यह पहली ही खुराक थी, जिसने जयसिंह के जीवन में क्रांति मचा दी।

'लाज न लागत आपको दौरे आये साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥"

संजीवनी की यह पहली ही गोली थी, जिसे खाकर हुलसी का बेटा जीवन भर के लिये नीरोग्य हो गया। और बाद में तो वह स्वयमेव, एक ऐसा सफल-चिकित्सक बन गया, कि आज तो, भौतिक-व्याधि के, इस धन्वतरि के एक

(रामरसायन-रामायण) का प्रयोग तो भारत के घर घर में हो रहा है। और क्या मजाल कि एक बार उसका विधवत् सेवन कर लेने पर, किसी का रोग रह जाये।

जादू वह है जो सर पर चढ़ कर बोले। साहित्य में भी वही जादुई शक्ति है। मैजिक-लालटेन समझिए आप इसे। मूर्ख से मूर्ख को भी, यदि मूर्ख कह दिया जाये तो उसकी भौंहों मे बल पड़े बिना नही रह सकते। और यदि कही उसकी मूर्खता की एक सीमा न हुई तो ईश्वर ही कुशल करे। किन्तु तनिक साहित्यक शैली का आश्रय लेकर व्यञ्जना-शक्ति से काम लेकर उसी को 'परमहंस' कह दीजिए। आपके मन की भी पूरी हो जायगी, आपके मित्र भी आपकी इस व्यञ्जना-शक्ति की दाद देंगे, और वह अनपढ़ भी आपके परिहास में, अपना मज्ञाहीन हीन-सहयोग देकर, आपके उस हास्य को रस के पूर्ण परिपाक तक पहुँचा देगा। साँप भी मर जायेगा, लाठी भी नही टूटेगी। साहित्य की यह साधारण साधना भी आपके अनेक कठिन कार्यो को सुगम बना देगी। जहाँ हजारों लाखो रुपयों से काम नही चलता वहाँ श्लेष, वक्रोक्ति और व्याज–स्तुति के कुछ थोड़े से नुस्खे ही आपका सम्पूर्ण कार्य पूरा करा देंगे।

कान्ता के समान मधुर वचनों का आनन्द लेना हो तो भी, इस मानसरोवर में एक डुबकी लगा लीजिए। मोती न मिले तो क्या–शरीर का ताप तो मिट जायेगा। वाणी-विलास का ऐसा आमोद ध्वन्यात्मकता एवम वक्रोक्ति का ऐसा प्रमोद भावों की ऐसी गरमागरम चासनी, रसो के ऐसे रसगुल्ले एवं अलंकारो का ऐसा मुरब्बा सच मानिये, आपको अन्यत्र नही मिलेगा। ये समस्त वस्तुएँ तो साहित्य की साधना द्वारा प्राप्त किये गए साहित्यानंद में ही मिल सकती है।

हिन्दी काव्य में 'छायावाद' का प्रवर्त्तन

लाक्षणिक-वक्रता से युक्त छायावादी-अभिव्यक्ति को न तो हम पूरी तरह से आधुनिक-युग की ही देन कह सकते हैं और न छायावादी त्रिदेवो (पंत 'प्रसाद' 'निराला') को एक मात्र उसका जनक। लाक्षणिक-वक्रता एवं ध्वन्यात्मकता जो छायावादी रचनाओं की अपनी विशेषता है, के उदाहरण हमें 'प्रसाद' पंत एवं 'निराला' के काव्य लोक में ही नहीं प्रत्युत खोजने पर कालिदास, तुलसी, सूर व बिहारी की रचनाओं में निःसन्देह प्राप्त हो सकेगी। कालिदास का "जनपदवधू लोचनैः पीयमानः" तुलसी का "धीरज छूकर धीरज भागा" एवं बिहारी का 'छाँहौ चाहति छाँह' आदि उदाहरण इसी तथ्य के पुष्ट-प्रमाण हैं। इन प्रमाणों का आशय यद्यपि यह कदापि नहीं है कि कालिदास, तुलसी, सूर एव बिहारी भी छायावादी कवि कहे जा सकते है। तो भी हमें इस प्रसंग में इतना स्वीकार करने मे कोई संकोच नहीं कि संस्कृत व हिन्दी की प्राचीन काव्य-सम्पत्ति मे भी लाक्षणिकता व ध्वन्यात्मकता (जो आधुनिक छायावाद की एक विशेष प्रवृत्ति है) का अभाव नही रहा है। यह बात और है कि व्यञ्जना की एक मात्र कसौटी पर किसी भी रचना को कस कर उसे छायावाद की मूल सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता। अपने समूचे ढाँचे व व्यञ्जना शैली की पूर्णता को लेकर तो छायावाद ने हिन्दी काव्य में प्रसाद पंत व 'निराला' की त्रयी के रूप में ही पदार्पण किया है।

हिन्दी (खड़ी बोली) काव्य में छायावाद के जन्म का भी एक इतिहास है। जिस प्रकार भारतीय-धर्म व दर्शन के इतिहास में हमें आरम्भ में तीन प्रवृत्तियों के दर्शन होते है। और वे तीनों ही एक दूसरे की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म व विकास प्राप्त करती है—ठीक उसी प्रकार 'छायावाद' भी प्रतिक्रिया की क्रोड़ से ही उत्पन्न होकर हिन्दी के समूचे काव्य-क्षितिज पर अपना स्निग्ध-आन्चल फैलाता हुआ देखा जा सकता है। आखीर वह भी तो सम्पूर्ण जीवन का एक व्यापक दृष्टिकोण और अपने युग की एक विशेष प्रतीकात्मक प्रवृत्ति ही तो है। भारतीय-दर्शन के विकास का सबसे पहला अतार्किक युग वह था जो वैदिक-मनिषियों के सरल अन्तःकरण से निकली हुई काव्य एवं चिन्तन की धारा से आप्लावित था। निश्छल-हृदय आर्य तब जल पवन एवं प्रकाश के प्रतीक देवताओं से प्रार्थना करता था कि तुम मेरे दिये हुए सोमरस का पान करो और मुझे उसके बदले गौ व अन्नादिकों से पुष्ट करो। बाल प्रवृत्तियों से युक्त —की इस नैसर्गिक कोमलता ने प्रतिक्रिया-स्वरूप बौद्धों एवं [illegible] की दूसरी तार्किक प्रवृत्ति को जन्म दिया विद्रोही चार्वाकों ने [illegible] पूर्व [illegible],

का नारा बुलन्द किया। बौद्धों ने कर्म को ही विधि–प्रपंच का सबसे अधिक गर्हित व बंधन मय अङ्ग सिद्ध किया। ब्रह्मवादी–दार्शनिकों ने ब्रह्म की ही एक निष्ठ सत्यता व विश्व की नश्वरता को तर्क एवं ज्ञान की पराकाष्ठा से प्रमाणित करना चाहा। तर्क एवं ज्ञान की इस दूसरी प्रवृति ने ही प्रतिक्रिया–रूप में अनुभव–जन्य भक्ति का सूत्रपात् किया। और 'अहं ब्रह्मास्मि' के विरोध में 'परवश जीव स्वबश भगवन्ता' की वाणी बलिष्ट हुई। जब भारतीय धर्म व दर्शन के विकास का इतिहास ही प्रतिक्रियामय है, तब जीवन का एक व्यापक व मार्मिक दृष्टिकोण 'छायावाद' भी स्वयं उससे अछूता किस प्रकार रह सकता था ?

हिन्दी गद्य विकास के स्वयमेव स्मारक आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के क्रांतिदर्शी-व्यक्तित्व ने भाषा के क्षेत्र में एक नई चेतना जाग्रत की। मनोभावों की व्यञ्जना का यह माध्यम (भाषा) पाणिनि की भांति व्याकरण के सूत्रों में जकड़ दिया गया। वाह्यावान्तरो की गठन के समक्ष आभ्यान्तरिक सौंदर्य का महत्व नगण्य सा हो गया। भावों पर भाषा की एकछत्र नियामकता स्थापित हुई। व्याकरण-सम्मत वाक्य-रचना की निर्दोषिता के आगे, विराम व अर्ध,-विरामों की सजगता के समक्ष जैसे सब कुछ अकिञ्चन सा अनुभव होने लगा। परिमाणतः भाषा के समक्ष भाव को अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। भाव अपनी व्यञ्जना के लिए लगभग सम्पूर्ण द्विवेदी–युगतक छटपटाता रहा।

अन्त में सूक्ष्म ने स्थूल के प्रति विद्रोह किया और वह विद्रोह 'प्रसाद', पंत एवं 'निराला' जैसे युग–प्रवर्त्तनकारी व्यक्तियों को लेकर छायावाद के प्रांजल-साहित्य के रूप में प्रतिफलित हुआ। 'प्रसाद' के 'कंकाल' का श्रेय जिस प्रकार प्रेमचन्द को है, ठीक उसी अर्थ में यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी में छायावादी–साहित्य की व्यापक संसृष्टि का श्रेय आचार्य–द्विवेदी और उनके युग को ही है। संक्षेप में छायावादी रचनाओं के प्रवर्तन का इतिवृत्य भी इतना ही है।

नवीन के प्रति गतानुगति का दृष्टिकोण सदैव से ही अनुदार एवं संभ्रमशील रहा करता है। हिन्दी में छायावादी-रचनाओं के प्रवर्तन के साथ ही, प्राचीन–काव्य परम्परा के अनुयायियों ने उसे झिझकती हुई दृष्टि से देखना आरम्भ किया। काशी के सुप्रसिद्ध काव्य मर्मज्ञ श्री 'दीन' जी ने तो विक्षुब्ध होकर स्वकाव्य रचना से सन्यास ले लिया और किसी पत्रिका के सम्पादक द्वारा रचना भेजने का निमन्त्रण पाकर, स्पष्ट-शब्दों में यह ही कह दिया कि अब वे इस प्रमादवादी–रचना के युग में (छायावाद के लिए) नूतन-काव्यसृष्टि को प्रस्तुत नहीं। यही नहीं 'छायावाद' के लिए 'प्रमादवाद', "न्यारावाद', 'प्रलापवाद', 'अस्पष्टवाद', जैसे न जाने कितने व्यंगनिष्ठ पर्याय गढडाले गये। उन दिनों की पत्र-पत्रिकाओं में प्राय ऐसी ही हेयात्मक-पंक्तियां छापा करती थी, जिसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ करता था कि हिन्दी में यह बे सिर पैर का 'बेतुकावाद'

कहाँ से आ घुसा। छायावादी रचनाओं के प्रवर्तनकारी कवि 'प्रसाद' को तो तभी से पलायनवादी सिद्ध करने का प्रयास होने लगा और इसके लिए उनके काव्य-सग्रह 'लहर' की 'लेचल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे' आदि पंक्तियों को लेकर खीच-तान की जाने लगी। इस एक पक्ति के ही आधार पर उनके समूचे-काव्य को पलायनवादी घोषित किया जाने लगा। यद्यपि उनके काव्य के सम्बन्ध मे आज भी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रगतिवादी कहे जाने वाले साहित्यिकों की ओर से कभी कभी दिखाई दे जाती है, किन्तु उस युग में तो समूचे छायावादी-काव्य के ही प्रति इस प्रकार की अन्यथा-धारणाओं का एक जाल सा बिछ गया था। प्रकृति के वरदपुत्र 'पंत' की रचनाओं के सम्बन्ध मे भी इस प्रकार के संभ्रमशील-विचारों का अभाव न था। आचार्य-शुक्ल जैसे महारथी स्वनामधन्य आलोचकों ने भी इस नई काव्यधारा को झिझकती हुई दृष्टि से ही देखना आरम्भ किया था। आरम्भ में छायावाद के सम्बन्ध मे उनके विचार भी अधिक प्रशस्त न हो पाये थे। छायावाद की जो परिभाषा उन्होंने उस समय की थी वह उसके व्यापकत्व को अधिक सीमित व संकुचित बनाने वाली थी। उस पर किया गया अभारतीयता का आरोप भी कदाचित् उसके मूल्य को घटाने वाला ही कहा जायगा। यद्यपि हमें यह मानने में विशेष आपत्ति न होनी चाहिए कि हिन्दी के अधिकश छायाव दी कलाकार पाश्चात्य-रोमान्टिक-कवियों से भी एक अ श तक प्रभावित हुये थे, तो भी इसका अर्थ यह नहीं है कि वह (छायावाद) भारतीय विचार व दर्शन के सीमान्तों से सर्वदा अछूता ही रहा।

'छायावाद' के सम्बन्ध में कुछ अन्य विचारकों का मत यह है कि वह सामाजिक-विषमता की विद्रोहखी प्रवृत्ति का प्रतीक है। सामाजिक वैषम्य की वृद्धिगत संघर्ष-चेतना के साथ ही देश के साहित्यिकों मे भी दो विभिन्न वर्ग उठ खड़े हुए। जिनकी शिराओं में रक्त का प्रवाह अधिक तीव्र व असन्तोष की भावना अधिक व्यापक थी उन्होंने क्रांति का पथ अपनाया। समाज के इन्हीं क्रांति-पथ गामी कवि एवं साहित्यकों को समष्टि रूप में प्रगतिवादी कहा गया। इन्होंने सामाजिक वैषम्य को दूर करने के लिए पूर्ण अहिंसा के सिद्धान्तों को भी अमान्य ठहराया। सतोष से युक्त किन्तु शक्ति एव स्फूर्ति में कुछ शिथिल साहित्यिकों के एक दूसरे वर्ग ने शान्ति का पथ अपनाया। इन्ही शांति पथ-गामी कवि एव साहित्यिकों को समष्टि रूप में छायावादी कहा गया। इस दृष्टि से देखने पर यद्यपि 'छायावाद' एवं 'प्रगतिवाद' दोनों ही, एक ही असन्तोष-रूपी पिता की दो औरस संतानें जैसी मालूम पड़ने लगती है। और उनके बीच एक विशेष प्रकार का नैकट्य भी स्थापित हो जाता है, किन्तु इससे छायावाद के मूल व्यक्तित्व में एक प्रकार की आरोपित संकुलता का भी समावेश हो जाता है।

सामाजिक असन्तोष के साथ उसका इतना गहरा व सीधा-सम्बन्ध स्थापित कर इसे लोक-जीवन का प्रतीक 'वाद' तो माना जा सकता है और तब उसे पलायनवाद

सिद्ध करने वालों को एक मुँह-तोड़ उत्तर भी दिया जा सकता है किन्तु हमारे सामने प्रश्न तो इस बात का है कि 'छायावाद' का इतना गहरा सामाजीकरण क्या उसकी मूल भावना-भित्ति पर स्थिर रह सकेगा ? और क्या छायावाद अपने शुद्ध रूप में सामाजिक विषमता की ही प्रतिध्वनि माना जा सकेगा ? कहना न होगा कि जिस प्रकार 'प्रसाद' के छायावाद को—संघर्षों से छुटकारा पाने का प्रयास करने वाला कोरा पलायन-वाद नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार छायावाद की संपूर्ण संसृष्टि को पूरी तरह से सामाजिक असन्तोष में उत्पन्न संघर्षवाद भी नहीं कहा जा सकता। कोरा-पालायनवाद व केवल 'सघर्षवाद' विचारों के दो सुदूर सीमान्त हैं। जीवन की दो विभिन्न इकाइयाँ है न कि स्वयं 'छायावाद'।

'प्रसाद' को तो हम पलायनवादी-साहित्यकार मानने के लिए ही प्रस्तुत नहीं। 'पलायन' का वास्तविक अर्थ होता है जीवन-संघर्षों के प्रतिभीरुता का दृष्टि-कोण। सामाजिक-दायित्व से पराङ्मुख होकर स्वकर्त्तव्य-कर्मों के प्रति उदासीन होकर बैठ रहना ही 'पलायनवाद' का आधार भूत-सिद्धान्त है। 'पलायनवाद' की सिद्धान्त-कसौटी पर 'प्रसाद' का साहित्य कहाँ तक खरा उतरता है, इस सम्बन्ध में विशेष छान बीन की आवश्यकता नहीं। किसी भी कवि के विस्तृत-काव्यलोक में घुनाक्षर-न्याय की भांति बिखरी हुई एक-आध रचना अथवा पक्ति को लेकर उसकी संपूर्ण काव्य-संसृष्टि को ही पलायन-वादी ठहराना वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसी रचनाएँ अथवा पक्तियाँ क्षण-विशेष की भावुकता अथवा भावपूर्ण-क्षणों की एक 'मुद्रा' तो अवश्य मानी जा सकती है, किन्तु उसे जीवन-व्यापी 'दर्शन' नहीं कहा जा सकता। पुनश्च मुझे इस प्रसंग में एक बात यह और भी कह देनी है कि जीवन-संघर्षों में प्रवृत्त होने वाले को कुछ क्षणों का विश्राम भी जरूरी है। दिन भर अथक परिश्रम करने वाले को रात्रि में गहरी नींद की भी आवश्यकता होती है। वस्तुतः तो किसी भी प्रगतिशील-व्यक्ति के आदर्श की रूप-रेखा भी यही होनी चाहिए। इस दृष्टि से तो 'कोलाहल की अवनी' को छोड़कर कुछ क्षणों के एकान्त-विश्राम की कल्पना भी हेय नहीं कही जा सकती। हाँ जीवन-व्यापी सिद्धान्त अथवा 'दर्शन' के रूप में भी इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता और न कामायनी के कर्मठ-कलाकार ने इसे इस रूप में स्वीकार ही किया है। जीवन-व्यापी दर्शन के रूप में तो उन्होंने जो कुछ कहा है उसका सार कामायनी की इन पंक्तियों में अन्तर्हित है :—

> ''यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म-रंग-स्थल है।
> होड़ा-होड़ी लग रही यहाँ, ठहरा जिसमे जितना बल है।''

यहाँ पर कदाचित् यह कहना भी अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि जो निष्कर्ष-पूर्ण [illegible] 'प्रसाद' के 'पलायनवाद' के सम्बन्ध में स्थिर होती है वह ही समूचे छायावाद के लिए भी लागू होती है 'संवेदन' छायावाद का मूल-स्वर व उसकी [illegible]

प्राण-चेतना है। विश्व-वेदना को आत्मसात कर दुखी-मानव के प्रति अपने हृदय की सच्ची-करुणा का निर्दर्शन ही 'छायावाद' की सबसे बड़ी विशेषता है। यह करुणा दरिद्र-नारायण से लेकर अभावावेष्टित किसी भी मानव-पुतले के लिए हो सकती है। हिन्दी के प्रतिनिधि छायावादी कवि 'प्रसाद' पंत, 'निराला' अथवा महादेवी—किसी में भी तो इसका अभाव नहीं। 'वरद' बन जाने की आशा से, अपने सवेदनशील हाथों को दुख-दग्ध मानवता के दुर्बल-कन्धों पर रखते हुए 'पंत' ने कहा—'जगती के उर्वर आँगन में बरसो हे ज्योतिर्मय जीवन!' 'प्रसाद' ने संवेदना के इन्हीं स्वरों को ध्वनित करते हुए गाया—शीतल-कल्याणी-ज्वाला जगती का करे उजाला' मानवीय सवेदना के इसी विशाल-हिमाद्रि पर खड़े हो कर 'महादेवी' ने तो यहाँ तक कह डाला कि आसू का एक बूँद, हास्य के अनेक सिन्धुओं से भी अधिक उर्वर प्रांजल और महान है। विषाद सकुल मानव को सवेदना की सुधा पिलाकर नव-जीवन प्रदान करने वाले साहित्य को विश्व संघर्षों से विमुख जीवन का पलायनवादी दृष्टि-कोण तो कहा ही नहीं जा सकता। साथ ही इसमें संघर्ष का एक मात्र संचालक 'प्रगतिवाद' कहा जाने वाला जीवन का वह एकांगी-दर्शन भी नहीं परिव्याप्त है जिसकी परिधि है 'रोटी' और जिसका आधार है 'फायरबाख' का चेतना-हीन भौतिकवाद किन्तु छायावाद की सवेदना भौतिक जीवन के अभाव से पीड़ित मानव के ही लिए ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व के विषाद के लिए प्रस्तुत है। यही कारण है कि उसकी रचनाओं में कभी व्यक्तिगत सुख-दुख के—विरह और मिलन के, स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा (Romantic-Poetery) स्वर भी। प्रतिध्वनित होते देखे जा सकते है। 'छायावाद' (Symbolism) एवं रहस्य वाद (Misticism) के सूक्ष्म-विभेदों को यदि अलग रख कर देखा जाय तब तो निश्चय ही छायावादी-साहित्य का दार्शनिक व आध्यात्मिक मूल्य भी बहुत अधिक बढ़ जाता है। साधना के क्षेत्र में तो वैसे भी 'छायावाद' 'रहस्यवाद' से एक ही चरण पीछे की वस्तु है। प्रकृति में अपने प्रियतम की साकार-सत्ता का साक्षात्कार करने वाला 'छायावाद' यद्यपि 'रहस्यवाद' से इस अर्थ मे भी भिन्न है कि वह (रहस्यवाद) प्रियतम में ही प्रकृति की परिव्याप्ति का समर्थक है। किन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि प्रकृति-प्रतिकृति से युक्त होकर आने वाला सारा काव्य ही 'छायावाद' है।

'हंस-मयूर' के नाटककार श्री 'वृन्दावनलाल वर्मा'

वर्तमान-सुख के अभाव में अतीत-वैभव की स्मृति से अपने को संतोष देते रहना मानव की जन्मजात स्वाभाविक प्रवृत्ति तो है ही, साथ ही उसमें नव-निर्माण का संदेश भी छिपा होता है। "कौन थे क्या हो गये हम और क्या होंगे अभी" के द्वारा कलाकार केवल बीते-वैभव की समाधि पर आँसुओं में डूबी हुई स्मृति के दो फूल ही नहीं चढ़ाना चाहता, प्रत्युत वह उस बीते हुए युग को एक बार फिर साकार बनाकर भी देखना चाहता है। बाबू जयशंकर 'प्रसाद', मैथिलीशरण-गुप्त वृन्दावनलाल वर्मा, एव हरीकृष्ण 'प्रेमी' प्रभृत्ति साहित्यकारों को लक्ष्य-पथ की दृष्टि से, एक ही कोटि में रखा जा सकता है। 'वर्मा' जी की गणना तो इस क्षेत्र में 'प्रसाद' जी के उपरान्त ही की जानी चाहिए।

सौभाग्य से, उक्त नाटककार का जन्म भी, भारत की उस वीर-प्रसू-भूमि बुन्देलखण्ड मे हुआ है, जिसके कण-कण में एक घटना है, एक गौरव है, और है उसी का एक त्याग-मय सदेश। स्वर्गीय श्री गणेशशकर विद्यार्थी के शब्दों में तो उन्हें, हिन्दी का 'वाल्टर स्काट' ही कहना चाहिए। स्थानीय-भाषा, लोक-साहित्य एवम् जनकथाओं के समन्वय में उनके नाटकों में एक विशेष स्फूर्ति का अनुभव होता है। यद्यपि, प्रयोगाधिक्य ने यत्र-तत्र उनकी भाषा-शैली के प्रवाह को भी आबद्ध कर दिया है। वैसे तो हिन्दी-जगत को उनका परिचय एक ऐतिहासिक-नाटककार के रूप में ही अधिक हुआ है, किन्तु उनकी साधना बहुमुखी है। नाटक, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, प्रायः सभी क्षेत्रों में उनकी अपनी गति है। वीर-बुन्देलों की भूमि के प्रति तो उनके हृदय में जो अनुराग संचित है, उसकी स्पष्ट-छाया उनकी कृतियों में भी देखी जा सकती है। 'काश्मीर का काँटा', 'हंसमयूर,' एवम् 'पूर्व की ओर' तीनों ही उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक-कृतियाँ है।

सदैव से, विश्व-जीवन के लिए 'एक पहेली' के रूप में चली आने वाली 'नारी' के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपने नाटकों द्वारा कुछ कहना चाहा है। अपने ऐसे समीक्षात्मक कथनों में, वह उस 'पहेली' का समाधान कहाँ तक उपस्थित कर सके हैं—इसका उत्तर नपे तुले शब्दों मे तो नही दिया जा सकता, तो भी उनका प्रयास सराहनीय ही कहा जाएगा। 'नाटककार' से भी पहले वर्मा जी को एक 'कथाकर' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। कहानी कहने की कला में वे एक ही हैं। चरित्र-विश्लेषण की जटिलता से दूर मनोविश्लेषणात्मक-गुत्थियों को सुलझाने के प्रयास में ही और अधिक उलझ जाने की भूलों से अलग वे अत्यत सादगी के साथ

अपनी कहानी कहते चलते हैं। इससे उनके पाठकों को, एक सीधी सी 'हुँकारी' भरने के अतिरिक्त, मस्तिष्क के सूक्ष्म तन्तुओं को अधिक सक्रिय व प्रश्नात्मक बनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। परिस्थितियों व अनुभवों की परिधि मे घूमते हुए, उनके पात्र स्वयं ही अपने व्यक्ति-वैशिष्ट्य का परिचय देते चलते हैं। उनके कथोपकथन चरित्र-विश्लेषण को प्रगति देने मे सहायक सिद्ध होते है। नाटककार, तो केवल एक कोने में आवरण की ओट मे बैठा हुआ अपने पात्रों की प्रवृत्ति का उद्घाटन करता चलता है। बहुत आवश्यक होने पर ही वह इस भीड़भाड़ में आकर भी उन पर अपनी विहगम्-दृष्टि डालता हुआ दिखाई देता है, वैसे नहीं।

भाषा-शैली की दृष्टि से, वर्मा जी के नाटकों को पूरी तरह से निर्दोष नहीं ठहराया जा सकता। प्रवाह का विशेष अभाव न होने पर भी, 'अतिशयानुकरण' की कठोर-सत्यता की ओर से पराङ्मुख होने के कारण ही उनकी भाषा मे कहीं कहीं स्थानीय मुहावरों व लोकोक्तियों का इतना अधिक जमघट हो गया है कि वह पाठक की सहज-स्फूर्ति में एक गतिरोध उत्पन्न करता हुआ अनुभव होता है। सूक्तिवाक्यों के संघटन में, वे यत्र तत्र 'प्रसाद' का पीछा करते हुए भी देखे जा सकते हैं, किन्तु इस दौड़ में वे 'प्रसाद' से सदैव पीछे ही रहे हैं। व्यग-विनोद व गीतों की सृष्टि में भी उन्हें अपने नाटकों में विशेष सफलता नहीं मिली है। गीत-रचना के लिए जिस जन्म-जात भावुकता की अपेक्षा होती है, वर्मा जी में स्पष्ट ही उसका अभाव है। 'प्रसाद' से तो इस क्षेत्र मे उनकी तुलना ही नहीं हो सकती। 'प्रसाद' के नाटकीय गीत तो साहित्य-सिंधु के वे अमूल्य-रत्न है जिनके उपमान भी कठिनाई से ही खोजे जा सकते हैं। इतना होते हुए भी, हिन्दी के ऐतिहासिक-नाटककारों में, वर्मा जी का एक विशिष्ट-व्यक्तित्व है। उनके सभी ऐतिहासिक नाटक अपना एक संदेश रखते हैं। कहानी कहने की कला मे तो वे, निर्विवाद रूप से बेजोड़ हैं। हो सकता है आज भी कुछ लोग इसे 'गड़े मुर्दे ही उखाड़ना समझें' किन्तु भारत का प्राचीन-गौरव सदैव से ही अपनी महानता, उदारता, त्याग एवम् तितिक्षा के लिए चिरस्मरणीय रहा है और रहेगा। 'प्रसाद' प्रेमी, मैथिलीशरण गुप्त, आदि कलाकारों ने हमें अपने जिस विगत-वैभव को पावन स्मृति से प्रभावित होने का संदेश दिया है, वर्मा जी ने उसीसे हमें कुछ शिक्षा लेने की भी प्रेरणा दी है। उनकी इस प्रेरणा को उनका पाठक सदैव कृतज्ञता व श्रद्धा की दृष्टि से ही देखेगा!

'हंसमयूर' जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, 'वर्मा' जी का एक प्रमुख ऐतिहासिक-नाटक है। कथा वस्तु के चयन में ही नाटककार ने नाट्य-रचना के उद्देश्य का संकेत कर दिया है ईसा से दशाब्दियों पूर्व की उस सामग्री को आधुनिक परिस्थितियों के साथ जिस कुशलता से गूँथा गया है—यह प्रशंसनीय है। पात्रों के

नामकरण व उनके आचार, व्यवहार, एवम् कार्य—व्यापार का वर्णन भी इतिहास-सम्मत है। विक्रम-संवत् की स्थापना के युगों उपरांत लिखे गए, जैन-ग्रंथ 'प्रभाविकचरित' में, उज्जैनाधिपति का नाम गर्दभिल्ल, 'धारानगरी' के राजकुमार व राजकुमारी का नाम 'कालकाचार्य' व 'सरस्वती' दिया हुआ है। प्रस्तुत-नाटक में सरस्वती का नाम 'सुनन्दा' कर लिया गया है। पुरन्दर, रामचन्द्र—'नाग' भूमक-एवम् ऊपवदात भी ऐतिहासिक व्यक्ति है। 'वकुल' निश्चित ही नाटककार का कल्पनाप्रसूत पात्र है। जो व्यक्ति न होकर, वर्ग-विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है। 'इन्द्रसेन' के सम्बन्ध में स्वतः नाटककार ने यह संकेत कर दिया है कि संभवतः वही कृतसेन भी हो सकता है? 'इन्द्रसेन' के साथ 'तन्वी' का प्रणयबंधन तो स्पष्ट ही शक और 'आर्य' संस्कृति का गठबन्धन है। जो भावनामय होते भी नवीन नहीं कहा जा सकता। पात्रों के वेश-विन्यास में भी नाटककार ने, तत्कालीन-संस्कृति का ही ध्यान रक्खा है।

मालव-गणतन्त्र की पुर्णस्थापना के समय, देश व समाज की क्या स्थिति थी, प्रस्तुत-नाटक में नाटककार ने उसे भी भली प्रकार स्पष्ट किया है। नाट्य-रचना के लिए, इतिहास के जिस युग से उपादान एकत्र किये गये हैं—उनका भी अपना महत्व है। वह गुप्त-शासकों के उत्थान, प्रभाव एवं प्रसार का युग है। भारतीय जीवन का यह वह प्रकरण है जिसमें विविध संस्कृतियों के समागम व लोप—उत्थान व पतन का एक विशिष्ट-अनुक्रम दिया हुआ है। शकों के आक्रमण के पश्चात् भारतीय संस्कृति के पतनोन्मुख चित्र की झलक भी प्रस्तुत नाटक में स्पष्ट दीख पड़ती है। 'ऊपवदात' के शासन में होने वाले अमानुषिक अत्याचारों का इतिहास ही इसका ज्वलंत प्रमाण है। भारतीय जीवन के पावन क्षितिज पर जब दैन्य, दुरित एवम् दुख की घटाएँ घिर आती है तब 'तदात्मानंसृजाम्यहम्' का ध्रुव सत्य भी अपनी प्रामाणिकता देने में नहीं चूकता। यही इस देश की मिट्टी की सब से बड़ी विशेषता है। यही यहाँ की पावन तपोभूमि का महत्व है। 'इन्द्रसेन' के रूप मे हम इसी ध्रुव सत्य का साक्षात्कार करते हैं। चतुर्भुजी-विष्णु की जन-रक्षक सौन्दर्यमयी मूर्ति के अनुरूप ही यह भी हमें 'शिव' का सन्देश देता है। और अन्त में पतनोन्मुख देश व जाति में नवीन प्राण चेतना का संचार कर उसे नई-दिशा की ओर प्रबुद्ध करता है।

प्राचीन भारत में, ललित-कला का उत्कर्ष कहाँ तक हो चुका था, साहित्य व संगीत के क्षेत्र मे तब भी हमारे पास दूसरों को भेंट करने के लिए कितना अवशेष था, शक-कन्या 'सुनन्दा' के द्वारा नाटक कार ने इस तथ्य पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। अपने विनाश-कारी पतन के साथ संप्रदायगत् धर्म-प्रवण भावनाएँ, कभी-कभी किन किन बुराइयों को जन्म देती है, बौद्ध जैन एवं कापालिकों के दुष्कृत्यों में उनका स्वरूप भी इस नाटक में अच्छी प्रकार देखा जा सकता है। "यज्ञों की ओट में ब्राह्मण बहुत लूटते-खाते हैं, बौद्धों का एक मठ भी यहाँ है न,

उसमे स्त्रियाँ न जाने क्या क्या क्रियायें करती हैं" आदि वाक्यों में निहित-व्यंग्य, तत्कालीन-धार्मिक कुरीतियों का ही दिग्दर्शन कराते हुए देखे जाते हैं।

यद्यपि, उक्त-नाटक की भाषा के सम्बन्ध मे, नाटककार ने स्वयं ही स्वीकार किया है, कि "इस नाटक की भाषा, मेरे अन्य नाटकों व उपन्यासों की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट है—तो भी हिन्दी की उत्तरोत्तर बढती हुई लोक प्रियता के समय मे, वह पाठकों की समझ में आ जानी चाहिए।" नाटक कार के इस कथन में उसकी प्रवृद्ध 'अहं भावना' के अतिरिक्त अत्युक्ति की भी छाप स्पष्ट है। वस्तुतः तो एक ऐतिहासिक नाटक के लिए, जिस शिष्ट सुगठित भाषा की अपेक्षा होती है, प्रस्तुत नाटक में उसका अभाव एक बड़े अंश में खटकता है। मारमूर कर', 'दे दिया कर', 'चबड़ चबड़' जैसे प्रयोग ग्राम्यत्व-दोष से भरे हुए देखे जा सकते है। कहीं कही व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी दिखाई दे जाती हैं। 'संवाद' प्रायः मर्यादित हैं। पात्र प्रायः शिष्ट एवम् अभिजात्य भाषा का प्रयोग करते हैं। अपने पद व स्थिति के अनुसार अपने कथोपकथनों द्वारा वे नाटकीय-वातावरण को (Dramatic-atmosphere) ज्यों का त्यों बनाए रखते हैं। 'इन्द्रसेन' का यह कथन, "कि मेरी कामना है कि देश की जनता अपनी सोई हुई-खोई हुई शक्ति को विष्णु की साधना द्वारा पुनः प्राप्त करे"—निश्चित ही नवीन-स्फूर्ति व ओज से परिपूर्ण, वह जागरण-संदेश है, जिसकी आवश्यकता आज भी हमारे लिए है और रहेगी। संयत्-भाषा के ऐसे प्रयोग निर्विवाद ही नाटकाकार के कथोपकथन सम्बन्धी कौशल के परिचायक है। किन्तु इसी नाटक में कही कही कथोपकथनों का, एक अत्यधिक सस्ता स्वरूप भी देखने को मिल जाता है। उद्दाम वासना से प्रताड़ित 'गर्दभिल्ल' का 'सुनंदा' के प्रति वह सस्ता आत्म समर्पण, जहाँ उसे अपने व्यक्तित्व का तनिक भी भान नहीं रह जाता, एक ऐसा ही अवांछनीय नाट्य स्थल है। नारी-पात्रों में वाक्य-संयम की शिष्टता पर्याप्त मात्रा मे पाई जाती है। नाटक कार ने उस युग की राग-रागिनियों का प्रयोग किया है, जिस युग की उसकी रचना है। कहना चाहें, तो इसे ही नाट्य-गीतों की विशिष्टता कहा जा सकता है। वैसे उनमे, 'प्रसाद' के नाट्य-गीतों की जैसी न तो सरसता है, और न प्रभावान्विति ही। उनकी दार्शनिकता का तो स्तर 'प्रसाद' के नाट्य-गीतो की दार्शनिकता से कही अधिक गिरा हुआ है।

प्रस्तुत-नाटक के नामकरण में, विशेष सावधानी बरती गई है। आरम्भ से ही नाटक का नाम हंसमयूर' पाठकों के मानस जगत में, एक विशेष-कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। यह कौतूहल आद्योपान्त नाटक के अनुशीलन में एक स्फूर्ति का सचार करता रहता है। भारतीय भाव-धारा का, जिसमें साहित्य, संगीत एवम् चित्रकला की एक त्रिवेणी सी बहती रहती है, प्रतीक है 'हंस'। जैसा कि 'इन्द्रसेन' ने रामचन्द्र-नाग से स्वयं ही कहा है कि "हंस बुद्धि विवेक, भक्ति एवम् संस्कृति का प्रतीक है

मयूर, तेज बल, व पराक्रम का प्रतिनिधि है। एक को यदि विष्णुरूप माना जा सकता है, तो दूसरे को रूद्र। कोमलता एवं कठोरता, संग्रह एवम् त्याग, संघटन एवम् विघटन मिलकर ही जीवन को पूर्णता प्रदान करते है। इस पूर्णता को दृष्टि-पथ पर रखकर ही प्रस्तुत नाटक का नाम 'हंस-मयूर' रखा गया है। जो नाटककार की बौद्धिक-प्रतिभा का परिचायक है।

उक्त नाटक के उद्देश्य के संम्बन्ध मे, अन्त में इतना ही कहा जा सकता है, कि वह भारतीय संगठन-शक्ति के बिखरे हुए सूत्रों के एकत्रीकरण व विकास में ही सन्निहित है। इसी को प्रस्तुत-नाटक का 'मूलमन्त्र' भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। प्रसन्नता का विषय है, कि इन बिखरे हुए संगठन-सूत्रों के संगठन का अर्थ 'स्वान्तः सुखाय' के शिथिल एवम् घातक पक्ष से न होकर 'बहुजन सुखाय' व 'बहु. जनहिताय' के अधिक व्यापक एवम् प्रशस्त संवेदनशील रूप से है। साथ ही नाटक में पवित्र अध्यात्म-चेतना के विकास को भी जीवन का एक अनिवार्य-अङ्ग बना दिया गया है। नायक-नायक 'इन्द्रसेन' तो हमारे पूज्य 'बापू' के सर्वोदय-पथ का ही एक उद्देश्य-प्रतिबद्ध पथिक जैसा प्रतिभासित होता है। मालव गण-तंत्र की पुर्नस्थापना में हमे भारतीय जन-तंत्र की स्थापना जैसी ही अनुभव होती है। नाटकीय कला की दृष्टि से हँसमयूर' में भले ही कुछ शैथिल्य आ गया हो, किन्तु उसका उद्देश्य निश्चय ही महान एवम् अनुकरणीय है। 'समन्वय' का जो मार्ग हमे 'हँसमयूर' ने दिया है वह हमारी आज का विषम-परिस्थितियों का भी एक सुन्दर समाधान है, जिसका आश्रय लेकर हम आज भी प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकते है।